स्वयम्भू

भारतीय साहित्य के निर्माता

स्वयम्भू

सदानन्द शाही

साहित्य अकादेमी

Swayambhu : Monograph in Hindi by Sadanand Shahi on the Apabhramsa poet, Sahitya Akademi, New Delhi (2002). Rs. 25 00.

प्रथम संस्करण : 2002 ई.

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400 014

जीवनतारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर रोड, कोलकाता 700 053

सीआईटी कैम्पस, टी.टी.टी.आई. पोस्ट, तरामणि, चेन्नई 600 113

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी.आर. अम्बेडकर मार्ग, बंगलौर 560 001

ISBN 81-260-1402-4

मूल्य : पच्चीस रुपये

शब्द संयोजक एवं मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

अनुक्रम

1.	युगीन परिवेश	7
2.	जीवन	12
3.	रचनाएँ	23
4.	कथा स्रोत	31
5.	काव्य-सौन्दर्य	39
6.	काव्यादर्श	64
7.	उपसंहार	76
8.	चयन	79

1
युगीन परिवेश

स्वयम्भू देव का समय भारतीय इतिहास का वह कालखंड है, जिसे मध्ययुग कहते हैं। आठवीं से तेरहवीं शती तक के समय को अन्धकार काल भी कहा गया है। यही वह समय है जब सामाजिक-राजनीतिक विशृंखलता के फलस्वरूप वाहरी शक्तियों को इस उपमहाद्वीप में विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई।

हर्षवर्धन (606-48 ई.) की मृत्यु के पचास-साठ वर्षों बाद कान्यकुब्ज और समूचे आर्यावर्त के राजनीतिक उत्तराधिकार को लेकर निरन्तर संघर्ष चलता रहा। प्रायः सभी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का लक्ष्य कन्नौज नगर को जीतकर उस पर प्रभुत्व स्थापित करना था। हर्ष और यशोवर्मन ने कन्नौज को सामाजिक सत्ता का प्रतीक वना दिया था। राष्ट्रकूटों, प्रतिहारों तथा पालों की साम्राज्यवादी आकांक्षाएँ कन्नौज विजय पर केन्द्रित थीं। तीनों राज्यों की समूची सैन्य शक्ति इस अभियान में लगी रही। इस संघर्ष ने तीनों राज्यों को निढाल कर दिया जिससे इनके सामन्तों की बन आयी और फलस्वरूप समस्त उत्तरी भारत में छोटे-छोटे प्रादेशिक राज्य स्थापित हो गये।[1]

आलोच्य काल (यानी नवीं-दसवीं शताब्दी) में देश के उत्तरी और दक्षिणी भागों में प्रतिहार और राष्ट्रकूट प्रधान राजनीतिक शक्तियाँ थीं। दोनों की प्रतिद्वन्द्विता आत्मघाती थी। अरव यात्री अलमसूदी ने दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कन्नौज की यात्रा की थी और लिखा था, कन्नौज का राजा दक्षिण के राजा का स्वाभाविक शत्रु था। उसके पास विशाल सेना थी और उसका राज्य ऐसे छोटे-छोटे राज्यों से घिरा था जिसके राजा सदैव युद्ध छेड़ बैठने को उतारू रहते थे।[2]

प्रतिहारों, पालों और राष्ट्रकूटों की शक्ति सुसंगठित सेनाओं पर निर्भर थी। सेनाओं का ख़र्च उठाने के लिए, राजस्व स्रोत एक जैसे थे। ज़ाहिर है निरन्तर युद्धों

1. *भारत का इतिहास* : रोमिला थापर, पृ. 168
2. वही, पृ. 170

के दौर में, राजस्व का अधिकांश सेना पर ख़र्च हो जाता था। कन्नौज पर अधिकार करने की प्रमुख लालसा के पीछे उनका ध्यान अपने सामन्तों पर से हट गया। सामन्तों ने अपने आपको स्वतन्त्र कर लिया। छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में आये। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण के आक्रमणों और सामन्तों की स्वतन्त्रता से उत्तरी भारत की एकता छिन्न-भिन्न हो गयी।

दक्षिणी राजाओं में भी संघर्ष की यही दशा थी। राष्ट्रकूटों के पराभव और पल्लव तथा चोल की चुनौतियों के बाद वहाँ भी छोटे राज्यों और उनके संघर्ष का वोलबाला हो गया। तात्पर्य यह कि नवीं शताब्दी में उत्तर से लेकर दक्षिण तक भारतवर्ष अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बँटा हुआ था। आपस में युद्ध करना और एक-दूसरे को मिटा देने का प्रयत्न इन राजाओं का परम कर्त्तव्य बन गया था। युद्ध, राज्य विस्तार और शौर्य प्रदर्शन मध्यकालीन राजाओं की प्रमुख विशेषताएँ थीं। छोटी-छोटी घटनाओं को वड़े बहाने बनाकर अनन्त युद्धों के सिलसिले से राज्यों की आर्थिक दशा ख़राब होती गयी। स्थानीय राजाओं को अपनी सीमाओं की सुरक्षा और विस्तार के लिए चौतरफ़ा युद्ध आवश्यक हो गया। स्वयम्भू की कृतियों में युद्धवर्णन की वहुलता और सजीवता इस ऐतिहासिक स्थिति की पुष्टि करती है।

आपसी युद्धों में व्यस्तता के नाते वाहरी दुनिया से इनके सम्वन्ध कट-से गये पश्चिम से व्यापार कम हुआ। राजाओं की इस दिशा मे रुचि भी कम हो गयी। इसीलिए सभी राज्य खस्ताहाल होने को अभिशप्त थे। राजाओं और जनता के सम्वन्ध न के बराबर थे। राजकीय कार्यो के प्रति जनता में उपेक्षा का भाव स्वाभाविक था। परिणामतः राज्यों की रक्षा के लिए भाड़े के सैनिक रखने पड़ते थे। नवीं शताब्दी के आरम्भिक अभिलेखों से इसका स्पष्ट पता चलता है। बंगाल तक के राज्यों में भाड़े के तुर्क सैनिक आते थे, जिन्हें यहाँ के लेखों में हूण ही कहा गया है।[1] ऐसी स्थिति में भारतीय राजे-महाराजे पश्चिमोत्तर प्रान्तों की ओर से अरव और तुर्क आक्रमणकारियों की दस्तक न सुन पा रहे थे, न ही समझ पा रहे थे।

राजनीतिक विखंडन के इस माहौल में समान संस्कृति और इतिहास पर आधारित प्रादेशिक निष्ठा को बढ़ावा मिला। राष्ट्रीय मामले चिन्ता के केन्द्र से हट गये, उनका स्थान तात्कालिक स्थानीय हितों ने ले लिया। छोटे-छोटे राजाओं के पारिवारिक इतिहास इस तरह बढ़ा-चढ़ाकर लिखे गये—मानों वे समुद्रगुप्त हों।

राजनीतिक अदूरदर्शिता और अस्थिरता के इस माहौल ने धीरे-धीरे भारतीय समाज की आन्तरिक संरचना को परिवर्तित करना शुरू किया। रोमिला थापर के अनुसार, "पहले के केन्द्रित दृष्टिकोण में इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का

1. *भारतभूमि और उसके निवासी* : जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ. 215

कारण मुख्यतया एक ऐसे राजनीतिक, आर्थिक ढाँचे का विकास था जो पहले उत्तर में और आगे चलकर दक्षिणी भारत में सबल हुआ। मोटे तौर पर इसे सामन्तवाद कह सकते हैं।[1] इस विकसित हो रहे सामन्ती ढाँचे का असर भारतीय समाज में दिखाई पड़ना शुरू हो गया जो स्वाभाविक था।

इस सामन्ती ढाँचे में सामन्तों और उप-सामन्तों की भारी वृद्धि के कारण भूमि से होनेवाली आय कई हिस्सों में बँट जाती थी। व्यवस्था के दोनों छोरों पर स्थित व्यक्तियों—किसान और राजा की स्थिति ख़राब हो गयी। अधिकांश आय बिचौलियों के हाथ में चली जाती थी। कृषकों की हालत दिनोंदिन ख़राब होती चली जा रही थी। कृषकों को भूमिकर के अलावा अनेक प्रकार के अन्य कर भी देने पड़ते थे। इन करों और बेगार की प्रथा ने तथा सामन्तों द्वारा गाँव के चरागाहों आदि पर कब्ज़ा कर लेने से कृषकों को कोई लाभ नहीं होता था, क्योंकि अधिक उपज होने पर ज़मींदार अधिक भाग की माँग करते। ऐसी स्थिति में कम-से-कम पैदावार करना ही श्रेयस्कर समझा गया। केवल जीवन-निर्वाह के लिए उत्पादन होने से व्यापार और विनिमय में कमी आयी। सिक्कों का प्रचलन कम हुआ और दूर देशों से व्यापार करना कठिन हो गया। सामन्तों और राजाओं का अतिरिक्त धन उत्पादन या व्यापार में नहीं लगता था, वल्कि फ़िज़ूल की विलासितापूर्ण चीज़ों पर ख़र्च किया जाता था। सामन्ती वैभव और विलासितापूर्ण जीवन की छवियाँ स्वयम्भू की दोनों कृतियों में दिखाई पड़ती हैं।

अलंकृत भवनों और भव्य मन्दिरों के निर्माण में अधिकांश धन व्यय होता था। झूठी प्रशंसा के लिए मन्दिरों में बढ़-चढ़कर दान दिया जाता था। मन्दिरों को मिलनेवाली इसी सम्पदा ने अरब और तुर्क आक्रान्ताओं को लूट के लिए आकृष्ट किया। वास्तविक सत्ता ज़मींदारों के हाथों में छोड़ दी गयी। व्यवसायों में एकमात्र साहूकारी की वृद्धि हुई। ब्याज की दर पन्द्रह से तीस प्रतिशत तक होती थी। ब्याज की दर भी जातियों के हिसाव से तय होने लगी। ब्राह्मणों से दो प्रतिशत ब्याज लिया जाता था, वहीं शूद्रों और किसानों से अधिक ब्याज लेने का रिवाज़ बन गया।

इतिहास के इसी कालखंड में जाति-प्रथा अधिकाधिक दृढ़ हुई। ब्राह्मणों और वणिक समुदायों में प्रमुखता के लिए हुए संघर्ष में भू-स्वामी बनकर राजसत्ता हथिया लेने के कारण ब्राह्मण विजयी हुए। वणिकों की स्थिति ख़राब होने से बौद्धधर्म कमज़ोर हुआ और ब्राह्मणों के धार्मिक प्रतिद्वन्द्वी महत्त्वहीन हो गये। रोमिला थापर के अनुसार, ब्राह्मणों की पृथक् रहने की इच्छा के फलस्वरूप ब्राह्मण विशेप रूप से निम्न वर्णों से अलग हो गये। चांडाल का स्पर्श ही भ्रष्ट कर देनेवाला नहीं था, मार्ग पर उसकी छाया पड़ जाने से भी ब्राह्मण को अपनी शुद्धि करनी पड़ती थी। इस प्रकार

---

1. *भारत का इतिहास* : रोमिला थापर, पृ. 183

के नियमों ने शूद्रों और अछूतों की स्थिति और भी ख़राब कर दी। धीरे-धीरे उच्च वर्ग के उन कट्टर नास्तिक मतावलम्बियों को भी शूद्रों में गिना जाने लगा जो ब्राह्मणों के विरोधी थे।

सती-प्रथा ने समूचे देश के जीवन को प्रभावित किया। आठवीं-नवीं शताब्दी से भारतीय सागर में अरब नाविक आने लगे थे। जाति-प्रथा के कारण उच्च वर्णों के भारतीय समुद्री यात्रा से बचने लगे, यही नहीं समुद्र यात्रा करनेवाले श्रमिक वर्ग को नीची निगाह से देखा जाने लगा।

सामन्ती शौर्य ने उच्च वर्ग की स्त्रियों को सामाजिक जीवन से प्रायः विरत कर दिया था। इसीलिए स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के चारों ओर भावुकता का वातावरण बन गया। ऊँची जातियों में विधवा विवाह निषिद्ध था यद्यपि छोटी जातियों में इसका चलन था। सती प्रथा ज़ोरों पर थी। वेश्यावृत्ति का प्रादुर्भाव भी इसी युग की देन है। शिक्षा-पद्धति वर्ण व्यवस्था से गहराई से जुड़ी हुई थी। शिक्षा धार्मिक होती जा रही थी। राजकीय संरक्षणवाले शिक्षा-केन्द्र सैद्धान्तिक रूप से तीनों उच्च वर्णों के लिए थे किन्तु वास्तव में उसका उपयोग केवल ब्राह्मणों के लिए होता था। ब्राह्मणों की परम्परा के सुदृढ़ होने और प्राचीन धर्म ग्रन्थों पर बल दिये जाने से औपचारिक शिक्षा रटन्त विद्या बन कर रह गयी थी, जिसमें तथ्यों पर तर्क करके जिज्ञासा शान्त करने की कोई गुंज़ाइश नहीं थी। इस रूढ़िवादिता ने तकनीकी शिक्षा और वैज्ञानिक दृष्टि दोनों को लगभग अवरुद्ध कर दिया था।

विज्ञान के क्षेत्र में आर्यभट्ट की स्थापनाओं के आगे प्रगति नहीं हुई। उलटे ब्रह्मदत्त और लल्ल (सातवीं-आठवीं शती) ने पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने के आर्यभट्ट के सिद्धान्त का विरोध किया और अपने मत के प्रचार में सफल रहे। आगे चलकर भाष्कराचार्य ने बारहवीं शती में आर्यभट्ट के सिद्धान्त की पुनःस्थापना की।

साहित्य से लेकर वास्तुकला, चित्रकला, मूर्तिकला सभी क्षेत्रों में कृत्रिमतापूर्ण अलंकरण और पांडित्य का प्रभाव था। संस्कृत में राजशेखर से लेकर श्रीहर्ष तक में इस अलंकारप्रियता और कृत्रिमता के दर्शन होते हैं। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रसार से पालि-प्राकृत में जो रचनाशीलता बढ़ी थी उसे ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के बाद पुनः संस्कृत की चुनौती का सामना करना पड़ा। संस्कृत के दबदबे को देखते हुए बौद्ध और जैन आचार्यों को भी संस्कृत अपनानी पड़ी। राष्ट्रकूट राजा प्रथम अमोघवर्ष (814 ई.) के जैन गुरु जिनसेन को भी अपना आदिपुराण संस्कृत में लिखना पड़ा।

सम्भव है इसीलिए अपभ्रंश कवियों को उत्तर के बजाय दक्षिण में शरण मिली या लेनी पड़ी। कह सकते हैं कि यह पूरा युग जैसे भारतीय समाज की अधोगति की तैयारी करने में लगा रहा। पर इसी युग में साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रकट होना महत्त्वपूर्ण और प्रगतिशील क़दम था। कहना न होगा कि आगे चलकर

अपभ्रंश से ही वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं का जन्म हुआ। इन्हीं भाषाओं के विपुल साहित्य में भारत की विशाल जनता के सपनों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई।

यह जानकर हैरानी होती है कि स्वयम्भू जैसा कवि, जिसने अपनी कृतियों से भाषा, काव्यरूप, छन्द, अलंकार और अनुभूति के स्तर पर समूचे भारतीय साहित्य को दूर तक प्रभावित किया, इतिहास के इस कालखंड की देन है।

2

जीवन

स्वयम्भू अपभ्रंश के वाल्मीकि माने जाते हैं। केवल इसलिए नहीं कि वे अपभ्रंश राम काव्यधारा के पहले कवि हैं, बल्कि अपभ्रंश भाषा के उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम कृतियाँ, स्वयम्भू की ही हैं। यद्यपि स्वयम्भू अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश कवि चतुर्मुख का बड़े सम्मान से नाम लेते हैं किन्तु अभी तक चतुर्मुख की कोई कृति उपलब्ध नहीं हो सकी है इसलिए अपभ्रंश के आदि कवि स्वयम्भू ही हैं। 'अभिमान मेरु' कहे जानेवाले परवर्ती अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त स्वयम्भू का महत्त्व निरूपित करते हुए उन्हें व्यास, भास, कालिदास, भारवि, बाण जैसे प्रमुख कवियों की श्रेणी में रखते हैं।

प्राचीन काव्य के मर्मज्ञ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी काव्यधारा में स्वयम्भू का महत्त्व निरूपित करते हुए लिखा है : हमारे इसी युग में नहीं, हिन्दी कविता के पाँचों युगों के जितने कवियों को हमने यहाँ संगृहीत किया है, यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वयम्भू उनमें सबसे बड़े थे। वस्तुतः वे भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक थे।[1] स्वयम्भू अपभ्रंश के महाकवि होने के साथ आचार्य भी थे। उन्होंने महाकाव्य के अतिरिक्त छन्दशास्त्र और व्याकरणशास्त्र की रचना भी की थी। इसीलिए अपभ्रंश के परवर्ती कवियों ने उन्हें छन्दस चूड़ामणि, विजयशेषित, जय परिशेष, कविराज धवल, कविराज चक्रवर्ती आदि विरुद के साथ सम्मानपूर्वक स्मरण किया है।

पुराने कवियों की भाँति स्वयम्भू ने अपने इतिवृत्त का विवरण नहीं दिया है। उनका समय क्या था, वे कहाँ के रहनेवाले थे, किस कुल और गोत्र से सम्बन्धित थे आदि का स्वयम्भू ने कोई संकेत नहीं दिया है। इसलिए स्वयम्भू के जीवनवृत्त के बारे में अनुमान का सहारा लेना पड़ता है। ऐसे में जब कोई कवि अपने बारे में मौन रहे, कोई स्पष्ट बाह्य साक्ष्य भी मौजूद न हो, अन्तःसाक्ष्य के सहारे ही उसके समय और स्थान का अनुमान किया जा सकता है।

स्वयम्भू ने अपनी कृतियों में कवि परम्परा के अनुसार पूर्ववर्ती कवियों एवं

1. *हिन्दी काव्य धारा* : राहुल सांकृत्यायन, पृ. 50

उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। *पउम चरिउ* में स्वयम्भू ने रविषेण की रामकथा, पाँच महाकाव्यों, पिंगल, छन्दशास्त्र, भरत के नाट्यशास्त्र, भामह और दंडी के अलंकारशास्त्र की चर्चा की है।[1]

रिट्ठणेमिचरिउ में स्वयम्भू ने व्यास, कवि ईशान, बाण के अक्षराडम्बर तथा श्री हर्ष की निपुणता का उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार स्वयम्भू के यहाँ भरत, व्यास, पिंगलाचार्य, इन्द्राचार्य, भामह, दंडी, श्रीहर्ष, बाण, रविषेण, चतुर्मुख आदि पूर्ववर्ती कवियों की प्रशंसा की गयी है। इनमें बाण और रविषेण समय की दृष्टि से सबसे पीछे के हैं। रविषेण ने *पद्मचरित* में ग्रन्थ रचनाकाल का स्पष्ट निर्देश किया है। *पद्मचरित* में एक श्लोक है—

> द्विशताम्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्ध चतुर्थ वर्ष युक्ते।
> जिन भास्कर वर्द्धमान सिद्धे चरितं पद्‌ममुनेरिदं निबद्धम॥123, 181

अर्थात् जिन सूर्य-भगवान महावीर के निर्वाण होने के 1203 वर्प 6 माह व्यतीत होने पर पद्‌ममुनि का यह चरित निबद्ध किया गया।

इस श्लोक के अनुसार *पद्‌मचरित* की रचना महावीर स्वामी के निर्वाण के 1203 वर्ष बाद अर्थात् ई.स. 676-677 में हुई।

स्वयम्भू ने 'रविषेणारिय-पसाएँ' लिखकर स्वीकार किया है कि रविपेणाचार्य के प्रसाद से रामकथा रूपी नदी का अवगाहन किया। इसलिए ज़ाहिर है कि स्वयम्भू का समय 676-677 ई. के बाद ही होगा। इस .आधार पर स्वयम्भू की पूर्व सीमा निश्चित की जा सकती है कि वे 676-677 के बाद हुए होंगे।

जिस तरह स्वयम्भू की पूर्व सीमा निश्चित की गयी उसी तरह उनकी उत्तर सीमा भी तय की जा सकती है। स्वयम्भू ने जैसे अपने पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण किया है, उसी तरह उनके बाद के कवियों ने स्वयम्भू का स्मरण किया है। स्वयम्भू के बाद के जिन कवियों ने स्वयम्भू को याद किया है, उनमें सबसे पहले पुष्पदन्त हुए हैं। पुष्पदन्त ने महापुराण की रचना 959 ई. में शुरू की। इस आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि स्वयम्भू 676 ई. के बाद और 959 के पहले हुए होंगे।

---

1. पुण रविसेणायरिय-पसाएं। बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं॥ *प.च.* 1 सन्धि 2, 9
   णउ णिसुणिउ पंच-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु विसव्वु॥
   णउ वुज्झिउ पिंगल-पत्थारु। णउ भम्मह-दंडि अलंकारु॥ *प.च.* 1 सन्धि 3, 7-8
2. इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरहेणवासें वित्थरणु॥
   पिंगलेण छन्द-पय-पत्थारु। भम्मह-दंडणिहिं अलंकारु।
   बाणेण समप्पिउ घणघणउ। तं अक्खरडंवरु अप्पणउ।
   सिरिहरिसेणिय तु णिउणत्तणउ। अवरेहिमि कइहिं कइत्तणउ।
   छडडणिय-उवइ-धुवएहिं जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय॥ *रिट्ठणेनेमिचरिउ*, 1, सन्धि 1, 6-10

इतना निश्चित होने के बाद यह प्रश्न अपनी जगह बना हुआ है कि स्वयम्भू का समय क्या था? 676 ई. से 959 ई. के बीच तीन सौ वर्षों की अवधि में वे कब हुए थे? इस सम्बन्ध में नाथूराम प्रेमी का ख़याल है कि स्वयम्भू रविषेण से बहुत अधिक बाद नहीं हुए। वे हरिवंश पुराणकर्ता जिनसेन से कुछ ही पहले हुए होंगे, क्योंकि जिस तरह उन्होंने *पउमचरिउ* में रविषेण का उल्लेख किया है उसी तरह *रिट्ठणेमिचरिउ* में हरिवंश के कर्ता जिनसेन का उल्लेख अवश्य करते, यदि वे उनसे पहले हो गये होते तो।[1]

इस आधार पर प्रेमी जी ने निष्कर्ष निकाला कि स्वयम्भू अवश्य *हरिवंश* कर्ता जिनसेन के पहले हुए होंगे। *हरिवंश* की रचना 783 में पूरी हो चुकी थी इसलिए वे स्वयम्भू का समय 677 से 783 के बीच मानते हैं। इसके साथ ही यह जोड़कर कि इसकी पुष्टि के लिए और प्रमाण की आवश्यकता है वे स्वयं इस निर्णय को 'ख़याल' ही बने रहने देते हैं।

राहुल सांकृत्यायन का अनुमान है कि स्वयम्भू का आश्रयदाता रयड़ा धनंजय महान विजेता ध्रुवधारावर्ष का अमात्य था। राष्ट्रकूट ध्रुवधारावर्ष के कन्नौज विजय अभियान (780-94 ई.) के दौरान ही स्वयम्भू रयड़ा धनंजय के सम्पर्क में आये और उसी के साथ राष्ट्रकूट चले गये। इस अनुमान के आधार पर स्वयम्भू का समय आठवीं सदी का उत्तरार्द्ध होना चाहिए।

राहुल जी के अनुमान का आधार *पउमचरिउ* की वे पंक्तियाँ हैं जिनमें रयड़ा और ध्रुवराय का उल्लेख है।

पउमचरिउ के आरम्भ में ही रयड़ा का उल्लेख हुआ है। राहुल जी ने रयड़ा के उल्लेखवाली पंक्ति को इस प्रकार उद्धृत किया है—

वे वेसाउ तो विणउ परिहरमि।
वीर रयड़ा वुत्तु कव्वु करमि॥

—तो भी मैं काव्य-व्यवसाय नहीं छोड़ पा रहा हूँ, वरन् रयड़ा के कहने से काव्य रचना कर रहा हूँ।

किन्तु राहुल जी द्वारा उद्धृत इस पंक्ति का पाठ पूना वाली प्रति पर आधारित है जो आमेर की प्रति के आधार पर एच.सी. भायाणी द्वारा सम्पादित संस्करण से भिन्न है। भायाणी द्वारा सम्पादित संस्करण में उपरोक्त पंक्ति इस प्रकार है—

वयसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रेड्डा वद्धु-कव्वु करमि॥ 1, 3, 9

जिसका अर्थ हुआ—तो भी मैं अपना व्यवसाय नहीं छोड़ूँगा बल्कि रड्डाबद्ध

1. *जैन साहित्य और इतिहास* : नाथूराम प्रेमी, पृ. 210-211

शैली में काव्य रचना करता हूँ। इस पाठान्तर में 'रयडा' और 'रड्डा' का अर्थ भेद राहुल जी के 'अनुमान' को 'प्रमाण' नहीं बनने देता। राहुल जी ने ध्रुवराय के उल्लेखवाली यह पंक्ति उद्धृत की है—

ध्रुवराय राय व तइय भुवप्पणत्रिणत्तीसु याणुपायेण।

भायाणी के सम्पादनवाली प्रति में इस पंक्ति में भी पाठभेद है किन्तु 'ध्रुवरायवत इयलु' में ध्रुवराज का उल्लेख है। पाठभेद के बावजूद दोनों प्रतियों में ध्रुवराज का उल्लेख राहुल जी के अनुमान को आधार प्रदान करता है।

भायाणी का मत है कि स्वयम्भू पहले सेउण राजा सेउण चन्द्र के समय में हुए होंगे। भायाणी के इस मत का आधार—*पउमचरिउ* की 69वीं सन्धि में भीमरथी नदी के प्रसंग में सेउण देश की चर्चा है—

पुणु सरि भीमरहि जलोह-फार जा सेउण देसहो अमिय-धार॥

अर्थात् उन्होंने भीमरथी नदी के जन-प्रवाह को देखा जो सेउण देश के लिए अमृत की धारा है।

सेउण देश यादव वंशीय राजा सेउण चन्द्र प्रथम द्वारा स्थापित सेउण नगर के पार्श्ववर्ती भू-प्रदेश का नाम था। यह सेउण देश महाराष्ट्र में नासिक के सिन्नार के आसपास का प्रदेश है।[1] स्वयम्भू के साक्ष्य से यह भीमरथी नदी से सिंचित प्रदेश था।

अस्तु स्वयम्भू का काल निर्णय सेउणचन्द्र प्रथम के समय के आधार पर हो सकता है। सेउणचन्द्र के समय के ताम्रपत्र या शिलालेख आदि के अभाव में दूसरे राजाओं के सापेक्ष गणना करके सेउणचन्द्र प्रथम का समय 825-826 सिद्ध किया गया है। सेउणचन्द्र ने अपने शासनकाल में सेउण नगर बसाया। यदि 825-40 के बीच यह नगर बसाया गया हो तो उसकी प्रसिद्धि 850-60 तक हो गयी होगी। *पउमचरिउ* की रचना इसी समय हुई होगी। इसलिए भायाणी ने स्वयम्भू का काल 9वीं शती का उत्तरार्द्ध माना है जबकि राहुल जी स्वयम्भू का समय नवीं शती का पूर्वार्द्ध मानते हैं।

वस्तुतः दोनों के निष्कर्ष नवीं शती के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में ऐसी भिन्नता नहीं है कि इनमें कोई संगति न बैठाई जा सके। डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय दोनों मतों में संगति इस प्रकार देखते हैं—यह भी तो सम्भव है कि स्वयम्भू का कर्तृत्व काल 9वीं शती के पूर्वार्द्ध में ही आरम्भ हुआ हो और उसके उत्तरार्द्ध तक चलता रहा हो। दक्षिण पहुँचने पर रयडा के आदेश से उन्होंने 'पउमचरिउ' आरम्भ किया हो और बीच में दो विरामों के पश्चात् जब तक वे 69वीं सन्धि तक पहुँचे तब तक सेउण देश अस्तित्व

1. *अपभ्रंश लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर* : एच. सी. भायाणी, पृ. 26

में आकर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका हो।[1]

अस्तु स्वयम्भू का जीवन विस्तार नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से उत्तरार्द्ध तक मानना युक्तिसंगत लगता है।

कवि के आविर्भाव और जीवन काल की तरह उनके निवासस्थान का प्रश्न कम विवादास्पद नहीं है। राहुल सांकृत्यायन मानते हैं कि स्वयम्भू उत्तर से दक्षिण गये थे। कुछ विद्वानों का मानना है वे महाराष्ट्र से आकर कर्नाटक में बस गये थे। डॉ. भायाणी ने *पउमचरिउ* की भूमिका में प्राचीन कन्नड से मिलते शब्दों के उदाहरण से कवि का कन्नडभाषी क्षेत्र में रहना सिद्ध किया है। स्वयम्भू की कृतियों में ऐसे प्राकृतिक दृश्य भी हैं, जो दक्षिण जीवन के यथार्थ को बिम्बित करते हैं। कवि ने *रिट्ठणेमिचरिउ* में एक स्थान पर कुन्ती, पांडवों तथा द्रौपदी की उपमा गोदावरी के सात मुखों से की है–

> संचल्लइ सतइ पुरबंरहो।
> गोयावरि मुहइव सायरहो ॥ रि.च. 21/18/5

अर्थात् "सातों श्रेष्ठ नगर की ओर चल पड़े जैसे गोदावरी के सातों मुख ही सागर की ओर प्रवृत्त हुए हों।" इसी तरह *पउमचरिउ* में विभीषण इन्द्रजीत को समझाते हुए कहता है–

> अण्णु वि हणुवहों काइं किउ, तुम्हहँ तणए पइट्ठउ जो वणें।
> दक्खवन्तु णिय-चिन्धाइं जिह वियड्ढु कण्णाडिहँ जोव्वणें ॥ *प.च.* 6/9/57

अर्थात् "जब हनुमान ने तुम्हारे नन्दनवन में प्रवेश किया था तब तुमने उसका क्या कर लिया? उसने अपने निशान उस उपवन में वैसे ही छोड़ दिये थे, जैसे कोई विदग्ध कर्णाटक बाला के यौवन में अपने चिह्न अंकित कर देता है।" स्पष्टतः ऐसी उपमाएँ कवि के दाक्षिणात्य सम्बन्धों का परिणाम और प्रमाण दोनों ही हैं। कवि कर्नाटक की बाला को जिस रूप में याद करते हैं वह कवि के अन्यत्र से प्रवसित होकर कर्नाटक प्रवास का ही आभास देता है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि स्वयम्भू का मन दक्षिण भारत के वर्णन में जितना रमा है उतना उत्तर भारत के वर्णन में नहीं। विन्ध्याचल उनके वर्णन की उत्तरी सीमा है। मन्दाकिनी, गंगा, यमुना आदि नदियों के नाम उपमा उत्प्रेक्षा के लिए आ गये हैं किन्तु उनका सजीव चित्रण नहीं है। जबकि स्वयम्भू ने नर्मदा, ताप्ती और गोदावरी जैसी दक्षिण भारतीय नदियों का विस्तृत और सजीव चित्रण किया है। भीमरथी जैसी छोटी नदी का वर्णन भी कवि ने अत्यन्त आत्मीयता के साथ किया है।

'धवलइया' और 'वदंइया' जैसे आश्रयदाताओं के नाम तथा स्वयम्भू की

1. *महाकवि स्वयम्भू* : संकटाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 29-30

पत्नियों के आइच्चम्बा और अमिअव्वा जैसे नाम पुरुषों और स्त्रियों के नामकरण की प्राचीन कन्नड शैली की विशेषता है। इन नामों का उच्चारण साम्य पुष्पदन्त द्वारा वर्णित—कुडव्वा, अम्मइय, दंगइय, सीलइय आदि नामों से है। यह निश्चित है कि पुष्पदन्त ने राष्ट्रकूट मन्त्री भरत के संरक्षण में मान्यखेट (आधुनिक मालखेड) हैदराबाद के कन्नड भाषा-भाषी केन्द्र में रहकर अपने अपभ्रंश *महापुराण* की रचना की थी। अभिप्राय यह कि स्वयम्भू और पुष्पदन्त दोनों ही महाकवि कर्नाटक प्रदेश में कुछ आगे-पीछे हुए होंगे।

पउमचरिउ में एक स्थान पर कवि ने वर्ष के महीनों का उल्लेख किया है—

फग्गुण-अवसाण चेत्त-पमुह ॥ *प.च.* 78, 4, 6

अर्थात् चैत से प्रारम्भ और फागुन में समाप्त। यह भी कवि के दाणिक्षात्य सम्बन्धों का प्रमाण है, क्योंकि चैत से वर्ष के आरम्भ की प्रथा दक्षिण में प्रचलित थी।

कर्नाटक में प्रसिद्ध जैन धर्म की यापनीय शाखा से कवि का सम्बन्ध भी कवि के कर्नाटक से घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रमाण है। दाक्षिणात्य सम्बन्धों के इतने प्रमाण देखकर कुछ उत्साही विद्वानों ने अनुमान किया है कि स्वयम्भू के पुरखे ही दक्षिण चले गये होंगे किन्तु इसे मानने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं मिलता।

स्वयम्भू के देश के सम्बन्ध में हज़ार टके का सवाल यह है कि द्रविड भाषी क्षेत्र के कवि ने आर्य भाषा अपभ्रंश में अपनी रचना कैसे और क्यों की और यह कि यदि वे प्रवसित होकर दक्षिण गये थे तो कहाँ से? मूलतः कहाँ के निवासी थे?

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भाषा की दृष्टि से विचार करते हुए लिखा, "स्वयम्भू की भाषा की क्रियाओं और कितने ही कुंजी के शब्दों को देखने से वह अवधी के सबसे नज़दीक मालूम होती है।" इसी नज़दीकी के आधार पर राहुल ने स्वयम्भू को अवधी क्षेत्र युक्त प्रान्त के होने की सम्भावना की है, "बहुत सम्भव है, स्वयम्भू अवधी भाषा क्षेत्र के थे और पुष्पदन्त यौधेय (हरियाना-दिल्ली) क्षेत्र के, इस प्रकार दोनों ही कान्यकुब्ज चक्रवर्ती क्षेत्र के, लेकिन उनकी पूछ अपने दरबार में नहीं बल्कि दूर जाकर दक्षिणापथ में हुई। अपने दरबार में तो राजशेखर और श्रीहर्ष जैसे संस्कृत के महाकवियों की ही एकमात्र पूछ थी।"

राहुल जी के अनुसार, कान्यकुब्ज चक्रवर्ती क्षेत्र अपभ्रंश का मूल क्षेत्र था किन्तु इस क्षेत्र में ब्राह्मण धर्म की प्रधानता के नाते दरबारों में संस्कृत के आगे देशी भाषाओं को महत्त्व देने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। इसलिए 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं' के तर्क से देशी भाषा के कवि आश्रय की तलाश में सुदूर दक्षिण तक गये होंगे। राहुल जी के इस अनुमान के पीछे 'रयड्डावुत्तु' के अलावा अन्य कोई प्रमाण नहीं मिलता जो पाठभेद के नाते बहुत विश्वसनीय नहीं है। इसलिए स्वयम्भू भले ही

अवध प्रान्त के न रहे हों किन्तु उनकी भाषा की गुत्थी सुलझाने के लिए राहुल जी के इस तर्क को मानना ही पड़ेगा कि वे किसी अपभ्रंश भाषा क्षेत्र से दक्षिण गये होंगे।

स्वयम्भू के महाराष्ट्र से कर्नाटक जानेवाला विचार अधिक तर्कसंगत लगता है। महाराष्ट्र के बरार और दक्षिण के कर्नाटक क्षेत्र के बीच गहरे राजनीतिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। दोनों के बीच राजवंशों के आदान-प्रदान का प्रमाण मिलता है। इस सम्बन्ध में संकटाप्रसाद उपाध्याय का मत है, "बरार और कर्नाटक के बीच यह आदान-प्रदान का घनिष्ठ सम्बन्ध शताब्दियों तक बना रहा। सम्भावना इसी बात की है कि स्वयम्भू का जन्म बरार प्रदेश में हुआ और वहीं बड़े होकर उन्होंने अपनी मातृभाषा अपभ्रंश का ज्ञान प्राप्त किया, बाद में किसी संरक्षक के साथ या संरक्षण की खोज में अथवा कर्नाटक में प्रचलित यापनीय संघ के सहज आकर्षण से वे कर्नाटक आये और वहीं बसकर साहित्य-साधना में लीन हो गये। कन्नड भाषा प्रदेश में रहकर अपभ्रंश में उनके कविता करने का यही प्रमाण है।"

इधर डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने 'स्वयम्भू का प्रदेश'[1] शीर्षक लेख में बरार क्षेत्र के अन्तर्गत स्वयम्भू कहाँ के थे, इस पर विचार किया है। विद्याधर जोहरापुरकर ने पं. परमानन्द शास्त्री द्वारा प्रकाशित नयनन्दिकृत *सकल विधि-विधान काव्य* के एक उद्धरण को आधार बनाया है। ग्यारहवीं शती का होने के नाते यह उद्धरण अधिक विश्वास योग्य है। उक्त उद्धरण में उल्लेख है कि, "बरार देश के वाडगाम में वीरसेन और जिनसेन ने धवल और जयधवल की रचना की तथा यहीं पर पुंडरीक, धनंजय और स्वयम्भू भी हुए।" इस आधार पर विद्याधर जोहरापुरकर लिखते हैं, "सुविदित है कि बराड महाराष्ट्र के पूर्वी भाग का नाम है। इसी का अंग्रेज़ी रूपान्तर बरार प्रचलित हुआ था तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसी क्षेत्र को विदर्भ कहते थे। इस क्षेत्र के मध्यभाग में आकोला शहर के दक्षिण में लगभग चालीस मील पर वाडेगाँव नाम का कस्बा है। इसके पास चार मील पर पातूर नामक स्थान पर बारहवीं सदी के कई जैन अवशेष मिले हैं जो नागपुर के संग्रहालय में है। यह वाडेगाँव प्राचीन वाडगाम हो सकता है।" बहरहाल जोहरापुर के इस अनुमान को अभी पुष्ट होना है कि यह वाडेगाँव ही प्राचीन वाडगाम है किन्तु नयनन्दि के कथन से इतना स्पष्ट है कि स्वयम्भू महाराष्ट्र के पूर्वी भाग बरार के थे।

यह मानने के बाद स्वयम्भू की अपभ्रंश भाषा में रचना का समाधान हो जाता है। यह भी समझ में आ जाता है कि स्वयम्भू ने महाराष्ट्र की नदियों—ताप्ती, कृष्णा, वेणा, गोदावरी तथा भीमरथी का आत्मीय उल्लेख तथा महाराष्ट्र के पवनार, पैठन, नदुवार, करहाड़, एलोर नगरों तथा कोंकण और सेउण देश का वर्णन क्यों किया है?

---

1. *स्वयम्भू का प्रदेश* : डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, 'जैन विद्या,' स्वयम्भू विशेषांक, अप्रैल 1984, पृ. 17-18

देश और काल की भाँति स्वयम्भू का जीवन परिचय भी आधा-अधूरा ही मिलता है। संयोग से स्वयम्भू की रचनाओं में उनके पारिवारिक जीवन-सम्बन्धी सूत्र मिलते हैं जिनके आधार पर स्वयम्भू के व्यक्तिगत जीवन की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। *पउमचरिउ* में स्वयम्भू ने अपने माता-पिता के बारे में लिखा है, "स्वयम्भू ने माँ पद्मिनी के गर्भ से जन्म लिया, पिता मारुतदेव के रूप के प्रति उनके मन में गहरा अनुराग था।[1] मारुतदेव स्वयं एक अच्छे कवि थे। स्वयम्भू ने अपने स्वयम्भू छन्द में एक दोहा 'तहा अ माउरदेवस्स' कहकर उद्धृत किया है।[2] यह माउरदेव स्वयम्भू के पिता मारुतदेव ही हैं। *गाथा सप्तशती* की 291, 294 तथा 346 संख्या की गाथाएँ इन्हीं मारुतदेव की बनाई बताई जाती हैं। इससे विदित होता है कि स्वयम्भू का जन्म कवि कुल में हुआ था। उत्तराधिकार में प्राप्त काव्य प्रतिभा को स्वयम्भू ने चरमोत्कर्ष प्रदान किया। काव्य प्रतिभा का यह प्रवाह तीसरी पीढ़ी अर्थात् कवि-पुत्र त्रिभुवन तक अविच्छिन्न रूप से मौजूद है।

स्वयम्भू ने *पउमचरिउ* में अपने रूप की चर्चा की है। उसके अनुसार वे शरीर से दुबले-पतले और ऊँचे क़द के थे। उनकी नाक चपटी तथा दाँत विरल थे।[3] स्वयम्भू का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। शरीर से क्षीणकाय होने के बावजूद वे ज्ञान से पुष्टकाय थे। वे प्रकांड पंडित थे। अपने आपको मूर्ख, अज्ञानी बतानेवाले स्ववम्भू अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे। 'णाउ बुज्झिउ पिंगल पत्थारु' कहनेवाले कवि ने संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश के लगभग अस्सी छन्दों का अधिकार के साथ प्रयोग किया है। वे छन्द चूड़ामणि थे। उन्हें काव्यशास्त्र के सर्वांग का ज्ञान था। कड़वक प्रणाली में काव्य रचना करनेवाले वे पहले व्यक्ति थे।

उनकी रचनाओं के प्रमाण पर आसानी से कहा जा सकता है कि वे पूरे गृहस्थ थे, साधु या मुनि नहीं। *पउमचरिउ* से ज्ञात होता है कि इनकी अनेक पत्नियाँ थीं, जिनमें दो का नाम कवि ने अत्यन्त आदर और प्रेम के साथ लिया है, एक अइच्चंबा अर्थात् आदित्याम्बा और दूसरी अमिअव्वा अर्थात् अमृताम्बा। स्वयम्भू ने पहली से अयोध्याकांड और दूसरी से विद्याधरकांड लिखवाया था। आदित्याम्बा की प्रशंसा करते हुए कवि उसे सूर्यदेव की प्रणयिनी रत्नादेवी से उपमित करता है।

यद्यपि स्वयम्भू ने दो ही पत्नियों का उल्लेख किया है लेकिन नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि इनकी सुअव्वा नाम की तीसरी पत्नी भी थीं। प्रेमी जी के अनुमान का आधार त्रिभुवन स्वयम्भू की वह गर्वोक्ति है, जिसमें त्रिभुवन कहता है, "सभी सुत

---

1. पउमिणि-जणमि-गब्भ-संभूएँ। मारुयएव-रूव-अणुराएँ ॥ *प.च.* 1, सन्धि 2, 10
2. लद्धउ मित्त भण (म) न्तेण। रअणाअ (रु) चंदेण ॥
   जो सि(झि) ज्जंते सि(झि) ज्जइ वि। तह भरइ भरंतेण ॥ स्वयम्भू छन्द 4-5-2
3. अइ-तणुएण पईहर-गन्तें। छिव्वर-णासें पविरल-दन्तें ॥ *प.च.* 1, सन्धि 2, 11

पिंजरबद्ध शुक की भाँति पढ़े हुए अक्षर सीखते हैं, कविराज स्वयम्भू का सुत त्रिभुवन सुअव्व-सुइ-गब्भसंभूअ है अर्थात् जिस प्रकार श्रुति से शास्त्र उत्पन्न हुए उसी प्रकार सुअव्वा के शुचि गर्भ से त्रिभुवन उत्पन्न हुआ है।[1]

स्वयम्भू ने अपने किसी पुत्र का उल्लेख नहीं किया है फिर भी त्रिभुवन को निर्विवाद रूप से स्वयम्भू का पुत्र माना जाता है। त्रिभुवन बार-बार अपने को स्वयम्भू का 'लहुतणओ', 'लहुअंगजाय', 'लहुअजाय' आदि कहता है इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि स्वयम्भू के और भी पुत्र रहे होंगे। त्रिभुवन ने न तो अपने किसी अग्रज का नाम लिया है और न ही अपनी विमाताओं का। 'सुअव्व-सुइ-गब्भ-संभूओ' को छोड़कर उसने कहीं और अपनी माँ का नाम भी नहीं लिया है।

त्रिभुवन अपने पिता का योग्य पुत्र था। पिता के लिए त्रिभुवन के मन में पर्याप्त आदर भाव था। वह क़दम-क़दम पर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। अपना नाम सदैव पिता के नाम से जोड़कर त्रिभुवन स्वयम्भू लिखता है। त्रिभुवन स्वयम्भू को स्वयम्भूदेव, कविराज, कविराज चक्रवर्ती, विद्वान् और छन्दस चूड़ामणि की उपाधियों से अलंकृत करके ही उल्लेख करता है। यह पिता के प्रति पुत्र के आदर भाव का ही प्रमाण नहीं अपितु तत्कालीन साहित्य-परिदृश्य में महाकवि स्वयम्भू की ख्याति और प्रतिष्ठा का भी प्रमाण है।

'त्रिभुवन स्वयम्भू' स्वयं अच्छा कवि था। कविराज चक्रवर्ती उसका विरुद था। उसकी स्वयं के बारे में की गयी गर्वोक्तियों से उसके व्यक्तित्व का अनुमान किया जा सकता है। *पउमचरिउ* के अन्त में प्रशस्ति गाथा में वह लिखता है, "त्रिभुवन स्वयम्भू के गुणों का वर्णन कौन कर सकता है जिसने बाल्यावस्था में ही अपने पिता के काव्यभार को उठा लिया है। यदि वह न होता तो स्वयम्भू देव के काव्यों का, कुल का और कवित्व का समुद्धार कौन करता? और सब लोग तो अपने पिता के धन के उत्तराधिकारी होते हैं किन्तु त्रिभुवन स्वयम्भू ने पिता के कवित्व का उत्तराधिकार लिया है। उसे छोड़ स्वयम्भू के समस्त शिष्यों में ऐसा कौन था जो उनके काव्य समुद्र को पार करता? व्याकरण के मजबूत कन्धे हैं, जिसके आगमों के अंगों की उपमावाले विकट पद हैं, ऐसे त्रिभुवन स्वयम्भू रूपी धवल (वृषभ) ने जिन तीर्थ में काव्य का भार वहन किया।" इससे मालूम होता है कि त्रिभुवन भी वैयाकरण और आगमों का ज्ञाता था। त्रिभुवन स्वयम्भू ने अपने पिता स्वयम्भू के ग्रन्थों को पूरा करने में अपना कौशल दिखाया।

अस्तु कहा जा सकता है कि स्वयम्भू का पारिवारिक जीवन सुखी था। त्रिभुवन जैसा प्रतिभाशाली पुत्र, अपने पति की योग्यता से भिज्ञ अमृताम्वा और

---

1. सव्वे वि सुआ पंजर-सुअव्व पढियक्खराइं सिक्खंति।
   कइरायस्स सुओ पुण सुअव्व-सुइ-गब्भ-संभूओ ॥ *प.च.*, प्रशस्ति गाथा : 8

आदित्याम्बा जैसी काव्य मर्मज्ञ पत्नियों के साथ वे सन्तुष्ट रहे होंगे। कवि ने राम-सीता, अंजना-पवनंजय आदि पात्रों के दाम्पत्य जीवन का जैसा चित्रण किया है वैसा सन्तुलित और उदार दृष्टिकोण निश्चय ही अपने सुखी सन्तुष्ट गार्हस्थ जीवन से ही विकसित हुआ होगा।

स्वयम्भू ने न तो अपने वंश और गोत्र का निर्देश किया है और न ही गुरु और सम्प्रदाय का। इतना तय है कि वे जैन धर्म के अनुयायी थे। वे जैनियों के किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे, इसके बारे में उनके यहाँ कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण में स्वयम्भू शब्द की टिप्पणी में 'सयंभुः पद्धडी वद्ध कर्ता आपुलीसंघीयः'[1] कहकर उन्हें 'आपुली संघीय' बताया गया है। इसलिए स्वयम्भू के यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने का अनुमान किया जाता है। जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं इनके अनुयायी अब भी मौजूद हैं, किन्तु एक तीसरी शाखा यापनीय के बारे में लोग कम जानते हैं। यापनीय सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रायः लोप हो चुका है। *दर्शन सार* के कर्ता देवसेन के अनुसार यापनीय सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विभाजन के कुछ समय बाद यानी विक्रम सं. 205 में ही अस्तित्व में आ गया था। नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कर्नाटक और उसके आसपास के क्षेत्रों में इस सम्प्रदाय का प्रचार अधिक था। यापनीय सम्प्रदाय में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की कुछ विशेषताएँ सन्निहित थीं। उदारता और सहिष्णुता में यह सम्प्रदाय दोनों से बढ़कर था। इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष हो सकता है और संग्रथावस्था और परशासन से भी मुक्ति सम्भव है।

इसी आधार पर भायाणी जी *पउमचरिउ* की भूमिका में स्वयम्भू को यापनीय होना मानते हैं, "स्वयम्भू देव के धार्मिक और साम्प्रदायिक विचारों की उदारता और परधर्म-सहिष्णुता को दृष्टि में रखते हुए देखा जाए तो उनका अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यापनीय संघीय होना अधिक संगत जँचता है, चाहे इसके लिए कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न हो।" नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास में स्वयम्भू को यापनीय स्वीकार करते हैं। हाल में डॉ. कुसुम पटौरिया की पुस्तक *यापनीय और उनका साहित्य* (1988) तथा डॉ. सागरमल जैन की पुस्तक *जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय* (1996) प्रकाशित हुई है। इनमें यापनीयों के साहित्य का गहन अध्ययन विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दोनों ही लेखकों ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर स्वयम्भू को यापनीय सिद्ध किया है।

स्वयम्भू की कृतियाँ उन्हें साम्प्रदायिक संकीर्णता से ऊपर उठे उदार और

---

1. *महापुराण* : पुष्पदन्त 1, 9, 5

सहिष्णु मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। वे परमात्म तत्त्व को किसी एक नाम में सीमित नहीं करते। स्वयम्भू परमात्म तत्त्व को अरहन्त, बुद्ध, हरि, हर, रवि, ब्रह्म, स्वयम्भू किसी भी नाम से अभिहित करने को प्रस्तुत हैं।[1] दूसरे धर्मों की तीखी आलोचना का भाव भी उनमें नहीं दिखाई देता। यह धार्मिक उदारता उनके यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के अनुमान को पुष्ट करती है।

पउमचरिउ के रचना काल में स्वयम्भूदेव धनंजय के आश्रित थे। उन्होंने *पउमचरिउ* की कतिपय सन्धियों की पुष्पिका में अपने आपको 'धनंजयाश्रित' कहा है।[2]

रिट्ठणेमिचरिउ की रचना करते समय वे धवलइया के आश्रय में चले गये थे। स्वयम्भूदेव ने अपनी कृतियों में आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है किन्तु किसी आश्रयदाता की स्तुति करते नहीं दिखाई देते। जिस तरह स्वयम्भूदेव धनंजय और धवलइया के आश्रित थे उसी तरह त्रिभुवन बन्दइया के। नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि ये तीनों आश्रयदाता किसी एक राजमान्य या धनी कुल के थे। धनंजय के उत्तराधिकारी धवलइया और धवलइया के उत्तराधिकारी बन्दइया। बन्दइया के प्रथम पुत्र गोविन्द का भी त्रिभुवन स्वयम्भू ने उल्लेख किया है। त्रिभुवन ने यह तो लिखा है कि उसने *पउमचरिउ* की शेष सात सन्धियाँ बन्दइया के वात्सल्य भाव से रचे। किन्तु *रिट्ठणेमिचरिउ* की अन्तिम सन्धियाँ लिखते समय उसका आश्रयदाता कौन था इसकी चर्चा नहीं की है। सम्भव है, वह बन्दइया ही रहा हो।

---

1. अरहन्तु बुद्धु, तुहुँ हरि हरु वि तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ।
   तुहु सुहुमु णिरंजनु परमपउ तुहुँ रवि वम्मु सयम्भु सिउ॥ *प.च.* 43.19.9
2. इय एत्थ पउमचरिए धणंजयासिय–सयम्भुएव–कए॥ *प.च.* 1.16.10

3
रचनाएँ

राहुल सांकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा में स्वयम्भू के बारे में लिखते हैं, "वस्तुतः वह भारत के एक दर्जन अमर कवियों में से एक था। आश्चर्य और क्रोध दोनों होता है कि लोगों ने कैसे ऐसे महान् कवि को भुला देना चाहा।"

स्वयम्भू के महान् काव्य से परिचित प्रत्येक व्यक्ति को राहुल जी की भाँति ही ऐसे कवि को भुला दिये जाने पर क्षोभ होगा। किन्तु स्वयम्भू क्यों भुला दिये गये थे, इसे समझा जा सकता है। जब साहित्यिक कृतियों का संरक्षण धार्मिक केन्द्रों के सहारे होता हो तो कृति के प्रचार-प्रसार का सम्बन्ध सम्बन्धित धर्म सम्प्रदाय के महत्त्व पर निर्भर करेगा। यह देखा जा चुका है कि स्वयम्भू का सम्बन्ध जैन धर्म के यापनीय सम्प्रदाय से था, जो अपेक्षाकृत उदार धर्म था। यह सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायों के अस्तित्व में आने के पचास-साठ वर्षों बाद यानी विक्रम सं. 205 के आसपास विकसित हुआ और विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक अस्तित्व में बना रहा।

राहुल सांकृत्यायन का अनुमान है कि स्वयम्भू के रामायण का प्रचलन गोस्वामी तुलसीदास के समय तक था। यानी स्वयम्भू की कृतियों के विस्मृत किये जाने की प्रक्रिया यापनीय सम्प्रदाय के लोप के साथ शुरू हुई होगी। राहुल सहित कुछ और विद्वानों का अनुमान है कि तुलसीदास ने स्वयम्भू की रामायण अवश्य देखी होगी। राहुल सांकृत्यायन 'क्वचिदन्यतोपि' के सहारे इस अनुमान तक पहुँचते हैं तो कुछ विद्वान, "जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने' पंक्ति के आधार पर प्राकृत-अपभ्रंश कवियों से तुलसीदास के परिचय का अनुमान करते हैं। ऐसी स्थिति में तुलसीदास द्वारा स्वयम्भू आदि जैन कवियों का नामोल्लेख न करने के पीछे धार्मिक कारण ही हो सकते हैं। तुलसीदास वर्ण व्यवस्था विरोधी जैन कवियों का आदर के साथ स्मरण कैसे करते। अस्तु स्वयम्भू जैसे कवि को भुला दिये जाने के पीछे निश्चय ही धार्मिक कारण प्रमुख रहे होंगे। ऐसे में, जैन भंडारों में पड़ी स्वयम्भू की कृतियों को अज्ञान और अपरिचय के कारण भूल जाना स्वाभाविक ही था।

सन्तोष की बात है कि अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येताओं ने स्वयम्भू

की अधिकांश कृतियाँ खोज निकाली हैं। स्वयम्भू की तीन महत्त्वपूर्ण कृतियाँ *पउमचरिउ*, *स्वयम्भूछन्द* और *रिट्ठणेमिचरिउ* उपलब्ध और प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त स्वयम्भू की तीन और कृतियों—(1) *स्वयम्भू व्याकरण*, (2) *पंचमीचरिउ* और (3) *सोद्धयचरिउ* की सूचना मिलती है।

रिट्ठणेमिचरिउ की कुछ प्रतियों में सरसठवीं सन्धि के आरम्भ में एक प्रशस्ति पद्य मिलता है—

गजंति ताम्व कइमत्त कुंजरा लक्ख-लक्खण-विहीणा।
जा सत्त-दीह-जीहं सयंभु-सीहं ण पेच्छंति॥ *रि.च.* सन्धि-67

अर्थात् शास्त्र-लक्षण-विहीन मत्त कवि कुंजर तभी तक गर्जन करते हैं जब तक कि वे सप्त-दीर्घ-जिह्वा-युक्त स्वयम्भू-सिंह को नहीं देखते।

इस 'सप्त जिह्वा' के आधार पर संकटाप्रसाद उपाध्याय ने स्वयम्भू की सात कृतियों के होने का अनुमान किया है और सात की संख्या पूरी करने के लिए पउमचरिउ के जयपुर टिप्पणी की सूचना के आधार पर 'द्विसन्धान काव्य' नामक एक और कृति की सम्भावना का अनुमान किया है। किन्तु इस अनुमान की निस्सारता इसी से समझ में आ जाती है कि स्वयं संकटाप्रसाद उपाध्याय ने जयपुर टिप्पणी को असन्दिग्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया है।[1]

बहरहाल यहाँ स्वयम्भू की प्राप्त और सूचित कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

1. **पउमचरिउ**—यह स्वयम्भू की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। जैन परम्परा में 'पद्म' अथवा 'पउम', 'राम' के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त है। अस्तु जैन परम्परा में 'पद्म' या 'पउम' चरित नाम से रामकथा को आधार बनाकर काव्य रचना की सुदीर्घ परम्परा रही है। प्राकृत में विमलसूरि का *पउमचरिय* तथा संस्कृत में रविषेण का पद्मचरित इस परम्परा की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। अपभ्रंश में रचित स्वयम्भू का *पउमचरिउ* महाकाव्य इसी शृंखला की अगली कड़ी है। इन ग्रन्थों में जैन धर्म के अनुसार वर्णित रामकथा पूर्णरूप से ब्राह्मण रामकथा से मेल नहीं खाती। *पउमचरिउ* में रामकथा का जैन रूपान्तर वर्णित है। स्वयम्भू ने इस काव्य ग्रन्थ को *पउमचरिउ* के अतिरिक्त पोमचरिय, रामायण पुराण, रामायण, रामएवचरिय, रामायण काव, राघवचरिय, रामकहा आदि नामों से भी सम्बोधित किया है।

पउमचरिउ महाकाव्य पाँच कांडों में विभक्त है। स्वयम्भू ने कांडों का विभाजन और नामकरण करते हुए *पउमचरिउ* में वाल्मीकि से किंचित् परिवर्तन कर दिया है। बालकांड की जगह विद्याधर कांड है। वास्तविक रामकथा अयोध्याकांड से शुरू होती है और क्रमशः सुन्दरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड में समाप्त होती है। यहाँ किष्किन्धा और अरण्यकांड नहीं हैं।

---

1. *महाकवि स्वयम्भू* : संकटाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 37-38

पउमचरिउ के विद्याधरकांड में 20, अयोध्याकांड में 22, सुन्दरकांड में 14, युद्धकांड में 21 और उत्तरकांड में 13 सन्धियाँ हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य कुल 90 सन्धियों, 1269 कड़वक और बारह हज़ार गाथाओं में विरचित है। 83 सन्धियाँ स्वयम्भू द्वारा रचित हैं। शेष 7 सन्धियाँ कवि की मृत्यु के उपरान्त उनके छोटे पुत्र त्रिभुवन की रचना कही जाती हैं। 83वीं सन्धि की पुष्पिका में त्रिभुवन का नाम है। यदि 83 सन्धि से 90 तक त्रिभुवन की रचना मानी जाए तो त्रिभुवन द्वारा रचित आठ सन्धियाँ होती हैं। *पउमचरिउ* के अन्त में त्रिभुवन ने अपनी रामकथा को 'सप्तमहासर्गांगी' कहा है। इसलिए त्रिभुवन द्वारा रचित सात सन्धियाँ ही हैं। ऐसा लगता है कि अपने द्वारा जोड़े गये अंश की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए त्रिभुवन ने 83वीं सन्धि में कुछ और कड़वक जोड़ दिये होंगे और पुष्पिका में अपना नाम दे दिया होगा। दरअसल त्रिभुवन द्वारा जोड़ी गयी सात सन्धियों के बिना भी *पउमचरिउ* पूर्ण है। त्रिभुवन द्वारा जोड़े गये अंशों में सीता या बालि की कथा, मारुत निर्वाण या हरिमरण कथा जैसे अवान्तर प्रसंग ही हैं।

स्वयम्भू ने *पउमचरिउ* की 23वीं और 43वीं सन्धि के प्रारम्भ में भी मंगलाचरण किया है। इसलिए भायाणी जी का अनुमान है कि *पउमचरिउ* की रचना में कवि को काफ़ी समय लगा होगा और उसका क्रम दो बार भंग हुआ था, तभी कवि को बार-बार मंगलाचरण लिखना पड़ा होगा।[1]

विद्याधरकांड में सन्धि की समाप्ति की सूचना कहीं संख्या देकर और कहीं पर्व शब्द से दी गयी है। पूरा कांड समाप्त होने पर 'बीस आसासएहिं' में आश्वास सन्धि का ही संकेतक है। अयोध्याकांड में कहीं पर सन्धि का उल्लेख है, कहीं संख्या देकर सन्धि समाप्ति की सूचना दी गयी है। सन्धि के लिए कुछ स्थानों पर सग्ग (सर्ग) शब्द का प्रयोग भी किया गया है। ग्रन्थ की समाप्ति 'नवतिमो सग्गो' से की गयी है। इससे जान पड़ता है कि स्वयम्भू के समय तक सन्धि शब्द रूढ़ नहीं हो पाया था। सन्धि के लिए संस्कृत काव्यों की भाँति पर्व, सर्ग, आश्वास शब्द भी प्रचलित थे।

सन्धियों की समाप्ति के बाद स्वयम्भू ने 'सयंभुअवलेण', 'सयंभुजंतउ' आदि शब्दों से अपना नामोल्लेख भी किया है।

डॉ. एच.सी. भायाणी ने पूना (1521 वि.) सांगानेर (1775 वि.) और आमेर (1541 वि.) से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर *पउमचरिउ* का योग्यतापूर्वक सम्पादन किया है। भायाणी ने विस्तृत भूमिका में स्वयम्भू के जीवन, कृतियों, *पउमचरिउ* के मूल स्रोत तथा काव्यगत विशिष्टताओं का उद्घाटन किया है। परिशिष्ट के रूप में कतिपय उद्धरणों की व्याख्या तथा शब्दार्थ की विस्तृत तथा अत्यन्त उपयोगी सूची दी है। *पउमचरिउ* के इस संस्करण के पहले दो भाग 1953 में तथा

1. *अपभ्रंश लैंग्वेज़ एंड लिटरेचर* : एच.सी. भायाणी, पृ. 46

तीसरा भाग 1960 में सिन्धी जैन शास्त्र विद्यापीठ मुम्बई से प्रकाशित है। *पउमचरिउ* का यह सुसम्पादित संस्करण देवेंन्द्र कुमार जैन के हिन्दी अनुवाद के साथ 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित है।

2. रिट्ठणेमिचरिउ—स्वयम्भूदेव की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। यह *अरिष्टनेमिचरित* और *हरिवंश पुराण, भारत पुराण* आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। स्वयं स्वयम्भू 'हरिवंश महन्नउ के तरम्मि' तथा 'पारंभिय पुणु हरिवंश कहा' जैसे उल्लेखों में इसे हरिवंश नाम से अभिहित करते हैं। जैन परम्परा में जिस तरह *पउमचरिउ* अथवा 'पद्मचरित' शीर्षक से रामकथा लिखी गयी है उसी तरह हरिवंश पुराण में कृष्णकथा लिखी जाती रही है। अपभ्रंश में स्वयम्भू रामकथा के ही नहीं कृष्णकथा के भी आदि कवि हैं। इस आधार पर चाहें तो इन्हें अपभ्रंश के वाल्मीकि और व्यास दोनों कह सकते हैं। जैन परम्परा में कृष्ण नौ वासुदेवों में स्वीकृत हैं। *रिट्ठणेमिचरिउ* में कृष्णकथा का वर्णन है। *रिट्ठणेमिचरिउ* का बाह्य गठन *पउमचरिउ* जैसा ही है। इसमें 22वें तीर्थकर रिष्टनेमि और उनके तीर्थ में होनेवाले कृष्ण तथा कौरव-पांडवों की कथा का वर्णन है।

यह ग्रन्थ आकार में *पउमचरिउ* से भी बड़ा है। 1937 कड़वक, अठारह हज़ार गाथाओं में रचित इस महाकाव्य में कुल 112 सन्धियाँ हैं। कथा चार कांडों में विभक्त है। यादवकांड में 13, कुरुकांड में 19, युद्धकांड में 60 तथा उत्तरकांड में 20 सन्धियाँ हैं। आरम्भिक 92 सन्धियाँ असन्दिग्ध रूप से स्वयम्भू द्वारा रचित हैं।

भायाणी के अनुसार, "इन 92 सन्धियों को लिखने में उन्हें छह वर्ष, तीन मास और ग्यारह दिन लगे। फाल्गुन नक्षत्र तृतीया तिथि, बुधवार और शिव नामक योग में युद्धकांड समाप्त हुआ और भाद्रपद दशमी रविवार और मूल नक्षत्र में उत्तरकांड प्रारम्भ किया गया। 93 से 99 तक की सन्धियों की पुष्पिका में भी स्वयम्भू का ही नाम है। 100वीं सन्धि की पुष्पिका से रचनाकार के रूप में त्रिभुवन का नाम आने लगता है। 99वीं सन्धि की समाप्ति पर एक पद में कहा गया है कि *पउमचरिउ* की रचना के बाद अब मैं *हरिवंश पुराण* की रचना में प्रवृत्त होता हूँ।" नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि यह पद वास्तव में त्रिभुवन का है क्योंकि *हरिवंश पुराण* की 99 सन्धियाँ लिखने के बाद स्वयम्भू के यह लिखने का कोई औचित्य नहीं है कि अब मैं हरिवंश पुराण लिखने जा रहा हूँ। दरअसल त्रिभुवन ने *पउमचरिउ* में अपने द्वारा रचित अंश जोड़ने के बाद *हरिवंश पुराण* को अपने ढंग से पूर्ण करने का कार्य शुरू किया होगा जिसका संकेत इस पद में किया गया है। अस्तु 99 सन्धि तक स्वयम्भू की रचना मानी जा सकती है। भायाणी जी का अनुमान है 99 सन्धि की रचना करने के बाद कवि की मृत्यु हो गयी होगी।[1] और आगे की सन्धियाँ त्रिभुवन ने

1. *पउमचरिउ* : एच.सी. भायाणी, भाग-3, प्रस्तावना, पृ. 28

पूरी की होंगी। इस प्रकार 100 से 112 तक की सन्धियाँ त्रिभुवन द्वारा जोड़ी गयी हैं। इनमें से चार सन्धियों—(106, 108, 110 और 111) की पुष्पिकाओं में रचनाकार के रूप में 'त्रिभुवन स्वयम्भू' के साथ मुनि यशकीर्ति का नामोल्लेख उलझन में डाल देनेवाला है।

यशकीर्ति स्वयम्भू और त्रिभुवन स्वयम्भू के आठ सौ वर्षो बाद हुए थे। वे काष्ठासंघ-माथुरान्वय-पुष्करगण के भट्टारक थे और गोपाचल या ग्वालियर की गद्दी पर आसीन थे। नाथूराम प्रेमी का मानना है कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि के समीप कुमर नगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पढ़ा नहीं गया या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज़ में अपना नाम भी जोड़ दिया।[1]

जसकीत्ति या यशकीर्ति ने स्वयं अपभ्रंश भाषा में *हरिवंश पुराण* की रचना की है इसलिए *हरिवंश* की प्रति में नष्ट हो गये अंशों को जोड़ना उनके लिए सुगम था। 109वीं सन्धि में वे लिखते हैं, "जिनके मन में पर्वो के उद्धार करने का ही राग था, (पर्व समुद्धरण रागैक मनसा) ऐसे जसकित्ति जति ने कविराज के शेष भाग का प्रकृत अर्थ कहा।" इस कार्य का औचित्य बताते हुए वे कहते हैं कि वे ही जीते हैं, उन्हीं का जीवन सार्थक है जो पराये बिहडित (बिगड़े हुए या विशृंखल हुए) काव्य कुल और धन का उद्धार करते हैं। अस्तु यशकीर्ति द्वारा *हरिवंश पुराण* में जोड़े गये अंश वस्तुतः जीर्णोद्धार के प्रयत्न हैं।

रिट्ठणेमिचरिउ का सम्पादन हो चुका है और अधिकांश प्रकाशित है। यादवकांड देवेन्द्र कुमार जैन द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी अनुवाद के साथ 'भारतीय ज्ञानपीठ' से 1985 में प्रकाशित हो चुका है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ प्रो. रामसिंह तोमर ने समूचे *रिट्ठणेमिचरिउ* का सम्पादन कर लिया है। उनके द्वारा सम्पादित कुरुकांड और युद्धकांड दो भागों में प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद से 1997 में प्रकाशित हो चुका है। शेष अंश प्रकाशनाधीन हैं।

3. स्वयम्भूछन्द—कवि की तीसरी प्राप्त कृति है। यद्यपि उनके उपलब्ध ग्रन्थों में सबसे पहले *स्वयम्भूछन्द* का ही प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादन और प्रकाशन का श्रेय प्रो. एच.डी. वेलणकर को है। उन्होंने *स्वयम्भूछन्द* के प्रथम तीन अध्याय जर्नल आव द रायल एशियाटिक सोयायटी, बाम्बे ब्रांच, 1935 में तथा शेष पाँच अध्याय जर्नल आव द यूनिवर्सिटी आव बाम्बे नवम्बर 1936, पृ. 41-93 में प्रकाशित कराया। उस समय उनके पास बड़ौदा से प्राप्त खंडित प्रति थी जिसके 22 पत्र ग़ायब थे। बाद

1. *जैन साहित्य और इतिहास* : नाथूराम प्रेमी, पृ. 202

में राहुल सांकृत्यायन तिब्बत के मठों से जो पांडुलिपियाँ ले आये उनमें *स्वयम्भू छन्द* की बंगाक्षरों में लिखी पांडुलिपि भी थी जिसे उन्होंने प्रो. एच.डी. वेलणकर को सौंप दिया। वेलणकर ने दोनों पांडुलिपियों के मिलान से *स्वयम्भू छन्द* का प्रायः पूर्ण रूप प्रस्तुत किया है जो राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से 1963 में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण में प्रो. वेलणकर ने *स्वयम्भू छन्द* के अध्ययन के लिए विस्तृत भूमिका दी है और पाठ भेद, मूल स्रोत आदि का विवेचन भी किया है।

स्वयम्भू छन्द में कुल आठ अध्याय हैं। पहले तीन अध्यायों में प्राकृत वर्ण वृत्तों का विवेचन है और अन्तिम पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छन्दों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में *स्वयम्भू छन्द* का उल्लेख है। छन्दों के उदाहरण के रूप में स्वयम्भू ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन प्राकृत अपभ्रंश के लगभग 80 कवियों की कविताओं से उदाहरण दिये हैं। उद्धृत छन्दों के साथ स्वयम्भू ने कवियों के नाम भी दिये हैं। *स्वयम्भू छन्द* में 50 ऐसे छन्द उद्धृत हैं जिनके साथ रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। ऐसे छन्दों में कुछ *पउमचरिउ* में मिल गये हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है, ऐसे सभी छन्द स्वयम्भू के स्वरचित होंगे। अपने छन्द उद्धृत करते हुए स्वयम्भू ने नाम देने की आवश्यकता नहीं महसूस की होगी। *स्वयम्भू छन्द* में उद्धृत छन्दों में *हरिवंश पुराण* का कोई छन्द नहीं प्राप्त हुआ है इसलिए यह भी अनुमान किया जाता है कि स्वयम्भूछन्द की रचना *पउमचरिउ* के बाद और *रिट्ठणेमिचरिउ* के पहले हुई होगी।

स्वयम्भू का छन्दशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त प्रामाणिक है। ख़ासतौर से इसलिए भी कि वे महज छन्दशास्त्र के सिद्धान्तकार ही नहीं, अपितु, छन्द के सिद्ध प्रयोक्ता रचनाकार थे। *स्वयम्भू छन्द* से स्वयम्भू के समकालीन और पूर्ववर्ती अस्सी कवियों की रचनाओं का उदाहरण मिलता है। यह कृति इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इससे अपभ्रंश की स्वयम्भू पूर्व समृद्ध काव्य परम्परा का प्रमाण मिलता है। *स्वयम्भू छन्द* के अध्ययन से अपभ्रंश काव्य के दो प्रमुख अभिलाक्षणिक काव्य रूपों सन्धिबन्ध और रासाबन्ध का परिचय मिलता है।

स्वयम्भू की इस कृति के महत्त्व का अन्दाज़ इससे भी लगाया जा सकता है, राजशेखर और हेमचन्द्र जैसे परवर्ती आचार्यों पर *स्वयम्भू छन्द* का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत आचार्य राजशेखर पर स्वयम्भू का ऋण स्पष्टतौर पर दिखाई देता है, क्योंकि उनकी कृति 'चन्द्रशेखर का अपभ्रंश खंड' *स्वयम्भू छन्द* की संस्कृत छायामात्र है। हेमचन्द्र के *छन्दानुशासन* की व्यवस्था, वर्गीकरण और उदाहरण तक *स्वयम्भू छन्द* से मिलते हैं। सम्भवतः इसीलिए हेमचन्द्र स्वयम्भू को भरत, काश्यप, पिंगल और जयदेव के समान छन्दशास्त्र का ज्ञाता बताते हैं।[1] छन्दशास्त्र के इस ग्रन्थ की रचना के आधार पर ही त्रिभुवन ने उन्हें छन्द चूड़ामणि कहा है।

1. *छन्दानुशासन*, पृ. 14

4. स्वयम्भू व्याकरण—इसकी केवल सूचना मिलती है। *पउमचरिउ* की सांगानेर प्रतिलिपि में प्राप्त प्रशस्ति में कहा गया है, "अपभ्रंश रूपी मतवाला हाथी तब तक ही स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करता है जब तक कि उस पर स्वयम्भू व्याकरण का अंकुश नहीं पड़ता। यहीं पर स्वयम्भू की तुलना पंचानन सिंह से की गयी है। जिसकी सच्छन्द रूप विकट दाढ़ें हैं जो छन्द और अलंकार रूप नखों से दुष्प्रेक्ष्य हैं और व्याकरण रूप जिसकी केसर (अयाल) है।[1] दोनों छन्दों में स्वयम्भू के व्याकरण का उल्लेख है। इस आधार पर स्वयम्भू के व्याकरण ग्रन्थकर्ता होने का अनुमान किया जाता है। डॉ. भायाणी को जयपुर से *पउमचरिउ* टिप्पण की प्रति मिली थी जिसमें 'पुणु' शब्द की टिप्पणी में लिखा है—

पुणु-पुनः संस्कृत-प्राकृत-व्याकरण-छन्दो द्विसन्धान भारत सूत्रकान्तरम्।[2]

यहाँ व्याकरण का उल्लेख स्वयम्भू के व्याकरण ग्रन्थकर्ता होने का अनुमान पुष्ट करता है। किन्तु जब तक स्वयम्भू व्याकरण की प्रति प्राप्त नहीं हो जाती इस अनुमान को अनुमान ही मानकर चलना चाहिए।

5. पंचमी चरिउ—स्वयम्भू की एक और अप्राप्त कृति है, जिसकी सूचना *पउमचरिउ* की अन्तिम प्रशस्ति से मिलती है। अन्तिम प्रशस्ति के एक पद में कवि पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू लिखता है, "यदि छन्द चूड़ामणि के पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू न होते तो पद्धड़ियाबद्ध 'सिरि पंचमी' को कौन सँवारता।"[3] इससे जान पड़ता है कि स्वयम्भू की पंचमी चरिउ नाम की रचना रही होगी जिसमें त्रिभुवन ने कुछ अंश जोड़े होंगे।

'सोद्धय चरिउ' नामक स्वयम्भू की एक और कृति की सूचना प्राप्त होती है। इस सूचना का आधार *रिट्ठणेमिचरिउ* की 99वें सन्धि के अन्त का यह पद है—

काऊण पोमचरियं सुद्धयचरियं च गुण-गणग्घवियं।
हरिवंश-मोह-हरणे सरस्सई सुढ़िय-देहव्व॥

इसका सीधा अर्थ है—*पोमचरिय* और *सुद्धयचरिय* बनाकर अब मैं *हरिवंश* की रचना में प्रवृत्त होता हूँ। सरस्वती मुझे स्थिरता दें। इससे स्वयम्भू के *सोद्धय चरिउ* नामक एक और काव्य ग्रन्थ होने के अनुमान को आधार प्राप्त होता है। किन्तु इस अनुमान में कई दिक़्क़तें हैं। एक तो यह पद स्वयम्भू का नहीं त्रिभुवन स्वयम्भू का है। नाथूराम प्रेमी का तर्क है कि हरिवंश की 99 सन्धियाँ बना चुकने पर स्वयम्भूदेव

1. तावच्चिय सच्छन्दो भमइ अवब्भंस-मच्च-मायंगी
   जाव न सयम्भु-वायरण-अंकुसो तच्छिरे पडइ॥
   सच्छन्द-वियट-दाढ़ो छन्दोलंकार-णहर-दुप्पिच्छो
   वायरण-केसरड्ढो संयभु-पंचाणणो-जयउ॥
2. *प.च.* : भाग-3, 1960, प्रस्तावना, पृ. 36
3. *प.च.* : अन्तिम प्रशस्ति

यह कैसे कह सकते थे कि पउमचरिउ बनाकर अब मैं हरिवंश बनाता हूँ।[1] सम्भव है त्रिभुवन ने *पउमचरिउ* और *सोद्धय चरिउ* को अपने ढंग से पूरा करने के बाद हरिवंश को पूरा करने का काम शुरू किया हो और उपरोक्त पद में इसका संकेत कर दिया हो।

बहरहाल, यह कथन भले ही त्रिभुवन का हो, इससे *सोद्धय चरिउ* नामक काव्य ग्रन्थ की सूचना तो मिलती ही है। जिसे त्रिभुवन ने अपने पिता की अन्य कृतियों के साथ पूर्ण किया होगा। बहरहाल जब तक स्वयम्भू की अप्राप्य कृतियाँ जैन भंडारों से मिल नहीं जातीं, उनकी काव्य प्रतिभा से परिचय और आस्वादन के लिए उपलब्ध कृतियों पर ही निर्भर रहना होगा। स्वयम्भू की उपलब्ध दोनों महत्त्वपूर्ण काव्य कृतियों *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* तथा *पंचमी चरिउ, सोद्धय चरिउ* जैसी अनुपलब्ध कृतियों को पूरा करने का श्रेय कवि के छोटे पुत्र त्रिभुवन को है। प्रश्न उठता है कि स्वयम्भू जैसे प्रतिभाशाली कवि ने अपनी सभी कृतियों को अधूरा क्यों छोड़ दिया था? नाथूराम प्रेमी उचित ही कहते हैं, "स्वयम्भू देव ने तो अपनी समझ से ये ग्रन्थ पूरे ही रचे थे परन्तु उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू को उनमें कुछ कमी महसूस हुई और उस कमी को उन्होंने अपनी तरफ़ से कई नये सर्ग जोड़कर पूरा किया।"

सवाल उठता है कि स्वयम्भू जैसे प्रतिभासम्पन्न महाकवि की कृतियों में त्रिभुवन को कौन-सी (क्या) कमी दिखी होगी? इस सवाल का उत्तर त्रिभुवन द्वारा जोड़े गये अंशों से मिल जाता है। दरअसल स्वयम्भू अपनी कृतियों का समापन विधिवत जैन धर्म के अनुसार नहीं करते हैं। कथा के राम आदि प्रमुख पात्र जैन धर्म में दीक्षित नहीं दिखाये जा सके थे। जैन धर्म की विविध कथाएँ, जन्मजन्मान्तर के प्रसंग तथा धार्मिक उपदेश नहीं दिये गये थे। त्रिभुवन ने अपनी ओर से जोड़े गये अंश में इस कमी को बख़ूबी पूरा किया है। इस प्रकार त्रिभुवन ने अपने पांडित्य और कवित्व शक्ति का प्रदर्शन पिता की कृतियों के संवर्धन में किया है। स्वयम्भू की कृतियों में त्रिभुवन का कृतित्व भी समाहित है किन्तु ध्यान से देखने पर पिता पुत्र की कृतियों का अन्तर साफ़ समझ में आता है। जहाँ स्वयम्भू के यहाँ भावों का आवेग, वर्णन की सादगी और लोकभाषा का प्रवाह दिखाई पड़ता है वहाँ त्रिभुवन के कृतित्व में पांडित्य की प्रबलता दिखाई पड़ती है। त्रिभुवन का महत्त्व स्वयम्भू की कृतियों के संवर्धन में ही नहीं उनके संरक्षण में भी है इसलिए त्रिभुवन की यह गर्वोक्ति उचित जान पड़ती है, "स्वयम्भूदेव का पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भू यदि न होता तो उनके काव्य कुल और कविता का उनके बाद उद्धार कौन करता?"[2]

---

1. *जैन साहित्य और इतिहास* : नाथूराम प्रेमी, पृ. 201
2. *पउमचरिउ* : अन्तिम प्रशस्ति।

4

कथा स्रोत

स्वयम्भू के दोनों महाकाव्य राम और कृष्ण चरित पर आधारित हैं। जैन परम्परा में राम और कृष्ण को बलदेव और वासुदेव के रूप में मान्यता प्राप्त है। भारतीय समाज में राम और कृष्ण की कथाएँ प्राचीन काल से लोक मन को रंजित करती रही हैं इसलिए बौद्ध और जैन धर्म जैसे धर्ममतों ने भी लोकचित्त तक अपना सन्देश पहुँचाने के लिए इन कथाओं का आश्रय लिया। यह ज़रूर है कि जैन और बौद्ध मतों ने अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप प्रचलित राम या कृष्णकथा में कदाचित परिवर्तन कर लिया है। स्वयम्भू की रामकथा और कृष्णकथा को इसी आलोक में देखा जाना चाहिए।

प्रचलित कथावस्तु पर महाकाव्य लिखनेवाले कवि को संग्रह और त्याग के कठिन मार्ग से गुज़रना पड़ता है। स्वयम्भू ने अपने महाकाव्यों में कथावस्तु कहाँ से ली है, और अपनी कल्पना से उसमें क्या रंग भरे हैं, इसे जानने के लिए उनके महाकाव्यों के कथास्रोत पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

पउमचरिउ—जैन मत में रामकथा की दो भिन्न परम्पराएँ हैं। एक विमलसूरि की और दूसरी गुणभद्र की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में विमलसूरि की रामकथा प्रचलित है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में विमलसूरि और गुणभद्र दोनों की रामकथाएँ प्रचलित हैं, यद्यपि विमलसूरि की परम्परा को अधिक महत्त्व मिला है।[1]

विमलसूरि ने *पउमचरिय* लिखकर पहले-पहल रामकथा को जैन धर्म के साँचे में ढालने का यत्न किया। विमलसूरि को यह कथा पूर्ववर्ती जैन आचार्यों से प्राप्त हुई थी जिसे उन्होंने विस्तृत चरित के रूप में प्रस्तुत किया। जैन परम्परा के अनुसार विमलसूरि का *पउमचरिय* 72 ई. की रचना है लेकिन इसकी भाषा आदि का अध्ययन करके हेरिमान्न याकोबी आदि ने इसे तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना माना है।[2]

रविषेण ने संस्कृत *पद्मचरित* की रचना 660 ई. में की। *पद्मचरित* वास्तव में

1. *रामकथा कोश* : फ़ादर कामिल बुल्के, पृ. 50
2. वही, पृ. 51

विमलसूरि के *पउमचरिय* का पल्लवित छायानुवाद मात्र है। स्वयम्भू का *पउमचरिउ* इस परम्परा की अगली कड़ी है। *पउमचरिय* उस रूप में विमलसूरि या रविषेण का छायानुवाद नहीं है, जिस रूप में *पद्मचरित पउमचरिय* का है, किन्तु रामकथा का जो वितान स्वयम्भू ने लिया है, वह विमलसूरि की परम्परा का ही है।

विमलसूरि की *रामकथा* और *वाल्मीकि रामायण* में मुख्य कथावस्तु की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। विमलसूरि ने राम को पउम (पद्म) कहा और तद्नुसार अपनी कृति का नाम *पउमचरिय* (*पद्मचरित*) रखा है। जिज्ञासा होती है कि जैन परम्परा में राम के लिए पद्म शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। जान पड़ता है कि राम के मुख के लिए बहुप्रयुक्त उपमान पद्म के कारण इस प्रयोग की रूढ़ि बन गयी होगी। फ़ादर कामिल बुल्के के अनुसार, जैन साहित्य में कृष्ण के भाई बलराम को भी राम कहा जाता था। सम्भवतः विमलसूरि ने इसलिए राम का नाम बदल दिया। यद्यपि वह उन्हें राम, राहव (राघव), रामदेव आदि भी कहते हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि विमलसूरि द्वारा रामकथा को पद्मचरित कहने की परम्परा का निर्वाह स्वयम्भू ने भी किया है।

रामकथा परम्परा के लिए स्वयम्भू ने रविषेण का दाय स्वीकार किया है किन्तु जैन रामकथा के आदि पुरष्कर्ता विमलसूरि का उल्लेख नहीं किया है। आश्चर्यजनक यह है कि स्वयं रविषेण ने विमलसूरि की चर्चा नहीं की है जबकि उनकी कृति *पद्मचरित* विमलसूरि के *पउमचरिय* का छायानुवाद है। रविषेण ने रामकथा परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है, "श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इन्द्रभूति नामक गौतम गणधर को प्राप्त हुआ, फिर धारणी के पुत्र सुधर्माचार्य को प्राप्त हुआ, फिर प्रभव को प्राप्त हुआ फिर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधर आचार्य को प्राप्त हुआ।[2] तदनन्तर उनका लिखा प्राप्त कर यह रविषेण का प्रयत्न प्रकट हुआ। *पउमचरिउ* में स्वयम्भू ने रामकथा प्राप्ति का स्रोत बताते हुए हूबहू इसी नामावली को उतार दिया। अपनी ओर से 'पुणु रविषेणाचरिय पसाएं' (रविषेणाचार्य के प्रसाद से प्राप्त हुई) कहकर रविषेण का नाम ज़रूर जोड़ दिया है।[3]

बहरहाल अध्येताओं ने विमलसूरि को रविषेण का पूर्ववर्ती सिद्ध किया है और रविषेण का स्वयम्भू का पूर्ववर्ती होना स्वीकृत तथ्य है। इसलिए स्वयम्भू की रामकथा में विस्तार के नाते कुछ स्थानों पर थोड़ा-बहुत अन्तर भले आ गया हो, कथा का मूल प्रवाह विमलसूरि और रविषेण की धारा के अनुरूप ही है।

स्वयम्भू कथा का आरम्भ प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की वन्दना से करते हैं, "मैं

1. *रामकथा, उत्पत्ति और विकास* : फ़ादर कामिल बुल्के, पृ. 53
2. *पद्म पुराण* : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1958, पृ. 21-22
3. *पउमचरिउ* : भाग-1, पृ. 6

नवकमल की तरह कोमल, सुन्दर और उत्तम धन कान्ति से शोभित तथा देवों और असुरों के द्वारा वन्दित श्री ऋषभजैन के चरणकमलों की वन्दना करता हूँ।"[1] जबकि विमलसूरि और रविषेण ने कथा का आरम्भ अन्तिम तीर्थंकर महावीर की वन्दना से किया है।

विमलसूरि और रविषेण की भाँति स्वयम्भू की *रामकथा* का आरम्भ भी राजा श्रेणिक की तर्कपूर्ण जिज्ञासा से होता है। तीर्थंकर जिनेन्द्र महावीर का समवशरण विपुलगिरि (विपुलांचल) पर पहुँचता है। वहीं उपस्थित होकर राजा श्रेणिक गौतम गणधर से पूछता है, "हे परमेश्वर, दूसरे धर्मों में रामकथा उल्टी सुनी जाती है, जिन शासन में वह किस प्रकार है, बताइए?" राजा श्रेणिक यहीं नहीं रुकते, वे आगे कहते हैं, "दुनिया में चमत्कारवादी और भ्रान्त लोगों ने भ्रान्ति उत्पन्न कर रखी है। यदि धरती की पीठ कछुए ने उठा रखी है तो तिरते हुए कछुए को कौन उठाये है। यदि राम के पेट में त्रिभुवन समा जाता है तो रावण उनकी पत्नी का अपहरण कर कहाँ ले जाता है। और भी हे देव, खर-दूषण के युद्ध में यदि स्वामी युद्ध करता है तो उससे अनुचर कैसे शुद्ध होता है? सगे भाई सुग्रीव ने स्त्री के लिए अपने सगे भाई बाली को किस प्रकार मारा? क्या वानर पहाड़ उठा सकते हैं? क्या रावण दसमुख और बीस हाथोंवाला था? क्या वह इन्द्र के हाथों को बाँधने में समर्थ था? क्या कुम्भकर्ण आधे वर्ष सोता था और करोड़ भैंसों का भोजन करता था। जिस विभीषण ने, पर नारीरत होने के कारण अपने अग्रज दशवदन रावण का अन्त तक कर दिया, फिर उसी ने मातृ स्थानीय अपनी भाभी मन्दोदरी को पत्नी के रूप में कैसे स्वीकार किया?"

ध्यान रखना चाहिए कि तुलसीदास के यहाँ भी रामकथा पार्वती की कुतूहल पूर्ण जिज्ञासा से ही शुरू हुई थी पर वहाँ उपरोक्त सभी चमत्कारपूर्ण भ्रान्तियों की पुष्टि की गई है, जिन चमत्कारों का समावेश करके राम को अवतार और रामकथा को अलौकिक बनाया गया है। रामकथा की जैन परम्परा ऐसे चमत्कारों पर सवाल उठाती है तथा उनका प्रत्याख्यान करते हुए आगे बढ़ती है।

राजा श्रेणिक की शंकाओं का निवारण करने के लिए गौतम गणधर कथा शुरू करते हैं। सृष्टि वर्णन, जम्बूद्वीप की स्थिति, कुलकरों की उत्पत्ति, काल का उल्लेख करके वे अयोध्या में ऋषभदेव की उत्पत्ति, विभिन्न संस्कारों तथा उनके जीवन की कथा कहते हैं। इसके बाद इक्ष्वाकु वंश तथा लंका में देवताओं एवं विद्याधरों के वंश का वर्णन करते हैं। फिर जैन मत के अनुरूप रामकथा दी गई है।

वास्तविक रामकथा शुरू करने के पूर्व गौतम गणधर मनुष्य, विद्याधर वंशों का परिचय देते हुए राक्षस और वानरवंश की उत्पत्ति का विस्तृत विवरण देते हैं।

1. णमह णव-कमल-कोमल मणहर-वर-वहल-कन्ति सोहिल्लं।
उसहस्स पाय-कमलं स-सरासर-वन्दियं सिरसा॥

गौतम गणधर के अनुसार, भारत में इक्ष्वाकु (मानव) और विद्याधर दो वंश थे। पहले तीर्थंकर ऋषभनाथ इसी परम्परा में राजा हुए। उनके वंश की सुदीर्घ परम्परा में सगर चक्रवर्ती सम्राट हुए। सगर विद्याधर राजा सहस्राक्ष अपने पिता के बैर का बदला लेने के लिए विद्याधर राजा मेघवाहन को मार देता है। मेघवाहन का पुत्र तोयदवाहन अपनी जान बचाने के लिए तीर्थंकर अजितनाथ के समवशरण में शरण लेता है। वहाँ सगर के भाई, भीम, सुभीम तोयदवाहन को राक्षसविद्या तथा लंका और पाताललंका प्रदान करते हैं। राक्षसवंश की परम्परा यहीं से चलती है, आगे चलकर इसी में रावण का जन्म हुआ, जैसे कि इक्ष्वाकुवंश में राम का। तोयदवाहन की पाँचवीं पीढ़ी में कीर्तिधवल हुआ। उसने अपने साले श्रीकण्ठ को वानरद्वीप भेंट में दिया। वानरवंश का विकास इसी से हुआ। स्वयम्भू की रामकथा में वानर सचमुच के नहीं थे अपितु श्रीकण्ठ के कुलचिह्न होने के कारण वानरवंश नाम पड़ा। इस प्रकार रामकथा में वानरों की भूमिका को अविश्वसनीय होने से बचा लिया गया है।

रावण के पिता का नाम रत्नाश्रव था और माँ का नाम कैकशी। खेलते-खेलते एक दिन रावण भंडार घर में जाकर राक्षसवंश के आदिपुरुष तोयदवाहन का नवग्रह हार उठा लेता है। हार में जड़े हुए नवग्रहों में रावण के दस चेहरे प्रतिबिम्बित हो उठे। इसी के बाद रावण को दशानन कहा जाने लगा। रावण के दस सिर होने के अविश्वसनीय वृत्तान्त के प्रत्याख्यान का यह प्रयत्न भी जैन रामकथा की मूल प्रतिज्ञा के अनुरूप है। रावण की शक्ति और पराक्रम में दिनोंदिन वृद्धि होती है।

वह विद्याधरों के राजा इन्द्र को परास्त करता है और वैश्रावण से पुष्पक विमान छीन लेता है। खरदूषण द्वारा बहन चन्द्रनखा का अपहरण किये जाने पर रावण बदला लेना चाहता है पर मन्दोदरी मना कर देती है। बाली की शक्ति की प्रशंसा सुनकर रावण उसे अधीन करने की चेष्टा करता है, पर सफल नहीं होता।

विभीषण को नारद से यह सूचना मिलती है कि रावण की मृत्यु दशरथ और जनक की सन्तानों के हाथ होगी। विभीषण दोनों को मारने का षड्यन्त्र करता है पर दोनों भाग निकलते हैं। इसी बीच दशरथ कौतुक मंगल नगर के स्वयंवर में भाग लेते हैं और कैकेयी उन्हें जयमाल डाल देती है। दूसरे राजा क्रुद्ध होकर दशरथ पर आक्रमण कर देते हैं। इस अवसर पर कैकेयी दशरथ की रक्षा करती है और उनसे वरदान प्राप्त करती है। आगे चलकर दशरथ के चार पुत्र—कौशल्या से रामचन्द्र, कैकेयी से भरत, सुमित्रा से लक्ष्मण और सुप्रभा से शत्रुघ्न होते हैं।

जनक के यहाँ एक कन्या सीता और एक पुत्र भामंडल उत्पन्न होता है। भामंडल जैन रामकथा की अपनी कल्पना है। पूर्वजन्म के बैर से एक विद्याधर राजा भामंडल को उड़ा ले जाता है। जनक के राज्य पर कुछ बर्बर, म्लेच्छ राजा आक्रमण करते हैं। जनक की सहायता के लिए राम और लक्ष्मण आते हैं और जनक की रक्षा करते हैं। इस प्रसंग में और पूरी कथा में विश्वामित्र की अनुपस्थिति जैन कथा की

अपनी विशिष्टता है। स्वयंवर में वज्रावर्त और समुद्रावर्त धनुष चढ़ा देने पर सीता राम को वरमाला पहना देती है। दशरथ अयोध्या से बारात लेकर आते हैं। शशिवर्धन राजा की अठारह कन्याओं की शादी राम के दूसरे भाइयों से हो जाती है।

दशरथ राम को राजगद्दी देने की तैयारी करते हैं पर इसी बीच कैकेयी के वर माँग लेने के कारण राम को वनवास और भरत को राजगद्दी मिलती है। ध्यान देने की बात यह है कि इस समय भरत अयोध्या में ही थे। स्वयम्भू के यहाँ वास्तविक रामकथा रामवनगमन से ही शुरू होती है।

गम्भीरा नदी पार करके राम एक लतागृह में थे तभी भरत उन्हें वापस बुलाने आते हैं। राम भरत के सिर पर दुबारा राजपट्ट बाँधते हैं। भरत जिन-मन्दिर में जाकर प्रतिज्ञा करते हैं कि वे राम के लौटते ही राज्य उन्हें सौंप देंगे।

चित्रकूट से चलकर राम वंश स्थल नामक स्थान पर पहुँचते हैं, जहाँ सूर्यहास खड्ग सिद्ध करते हुए चन्द्रनखा के पुत्र शम्बूक का सिर धोखे से काट देते हैं। पुत्र को मरा देखकर चन्द्रनखा क्रोध में राम-लक्ष्मण के पास पहुँचती है। राम-लक्ष्मण का रूप देखकर उसका क्रोध अनुराग में बदल जाता है। वह राम-लक्ष्मण से प्रणय निवेदन करती है। इसे अस्वीकार करते हुए लक्ष्मण उसे अपमानित करके भगा देते हैं। राम-रावण युद्ध की पृष्ठभूमि यहीं से शुरू होती है। खर-दूषण के पराजित होने पर चन्द्रनखा रावण से निवेदन करती है। रावण राम से लड़ने आता है और सीता के रूप पर मुग्ध हो जाता है। वह अवलोकिनी विद्या की सहायता से सीता का अपहरण करता है। रास्ते में जटायु और भामंडल का अनुचर विद्याधर विरोध करते हैं पर असफल होते हैं। लंका पहुँचने पर सीता नगर में प्रवेश करने से मना कर देती हैं। रावण उन्हें नन्दनवन में ठहरा देता है और तरह-तरह के प्रलोभन देकर फुसलाने की कोशिश करता है। सीता अडिग बनी हुई हैं।

उधर राम कपट सुग्रीव (सहस्रगति) से सुग्रीव की पत्नी का उद्धार करते हैं। वे उम्मीद करते हैं कि सुग्रीव सीता की खोज में सहयोग करेगा। सुग्रीव पहले उदासीन रहता है पर लक्ष्मण के डर से तत्पर होता है और सीता की खोज के लिए चार सामन्त भेजता है। सीता का पता लगने पर हनुमान सन्देश लेकर जाते हैं। हनुमान से राम का समाचार प्राप्त होने पर सीता आहार ग्रहण करती हैं।

सन्धि के सभी प्रयास विफल होते हैं, युद्ध होता है और रावण लक्ष्मण के हाथों मारा जाता है। राम अयोध्या वापस आते हैं।

कुछ समय राज्य करने के बाद राम का मन सीता से विरक्त हो उठता है। अनुराग के समय राम ने सीता के लिए क्या-क्या नहीं किया पर विरक्ति के समय वही सीता राम को काटने दौड़ती है। वे सीता का परित्याग कर देते हैं। सीता अपने मामा वज्रजंघ के साथ जंगल चली जाती हैं। जंगल में वे लव और कुश नामक दो सन्तानों

को जन्म देती हैं। बड़े होने पर राम से उनका युद्ध होता है। बाद में यह रहस्य खुलने पर कि वे दोनों उन्हीं के पुत्र हैं दोनों को राम गले लगा लेते हैं।

सीता बुलायी जाती हैं। उन्हें अग्नि-परीक्षा का दंश झेलना पड़ता है। अग्नि-परीक्षा के बाद सीता जैन धर्म ग्रहण कर लेती हैं। कुछ दिन बाद लक्ष्मण की मृत्यु होती है। राम उनका शव कन्धे पर रखकर छः महीने तक घूमते रहते हैं। अन्त में आत्मबोध होने पर राम लक्ष्मण का दाह-संस्कार करके जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण करते हैं और तप करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कहना न होगा कि इस रामकथा की सभी प्रमुख घटनाएँ परम्परित रामकथा के मेल में हैं। धार्मिक आग्रह से प्रायः सभी पात्रों को जैन धर्म में दीक्षित दिखाया गया है। जैन धर्म की अहिंसा वृत्ति के नाते कुछ पात्रों की मृत्यु के बजाय दीक्षा ग्रहण करना दिखाया गया है। इसीलिए राम को अलौकिक या दिव्य पुरुष के बजाय साधारण मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है।

रिट्ठणेमिचरिउ—इसे *हरिवंश पुराण* भी कहते हैं। अरिष्टणेमि जैनों के बाईसवें तीर्थंकर हैं और जैन मतानुसार वे *हरिवंश* यानी कृष्ण के कुल के ही हैं। इसलिए *हरिवंश* में अरिष्टणेमि का पूरा चरित भी वर्णित है। इसमें अरिष्टणेमि के चरित को अपेक्षाकृत ज्यादा विस्तार दिया गया है। ज़ाहिर है ग्रन्थ का *रिट्ठणेमिचरिउ* नाम अरिष्टणेमि चरित होने के नाते और *हरिवंश पुराण* नाम कृष्ण के वंश की कथा होने के नाते दिया गया है।

कठिनाई यह है कि स्वयम्भू ने *पउमचरिउ* में तो रामकथा के सन्दर्भ में पूर्व कवियों का स्मरण किया है किन्तु *रिट्ठणेमिचरिउ* में ऐसा नहीं किया है। इसीलिए *रिट्ठणेमिचरिउ* के कथा स्रोत के बारे में अनुमान के लिए गुंज़ाइश बनी हुई है।

रिट्ठणेमिचरिउ का आरम्भ मंगलाचरण, आत्मविनय और माहात्म्य वर्णन के बाद ग्रन्थ का आरम्भ उसी शैली में होता है जिस तरह *पउमचरिउ* का। यहाँ भी मगध राजा श्रेणिक गौतम गणधर से पूछता है, "जिन मत में *हरिवंश* किस प्रकार है? दूसरों के मत में यह कथा उल्टी है।" राजा श्रेणिक के इसी सन्देह का निराकरण करते हुए पूरी कथा कही गयी है।

ग्रन्थ के आरम्भ में विनय प्रदर्शन के अन्त में कवि का यह कथन ध्यान देने योग्य है, "मैंने तब यह हरिवंश-कथा आरम्भ की जो स्वमत और परमत के विचारों को सहन करनेवाली हैं।" यह स्वयम्भू की उदार दृष्टि का प्रमाण तो है ही, उनके कथा स्रोत की ओर पहुँचने का संकेत भी हैं। 'स्वमत' का अभिप्राय तो जैन मत है, परमत का आशय स्वयम्भू के समय प्रचलित उन मतों से होगा जिनमें कृष्णकथा प्रचलित थी। हिन्दू और बौद्ध दो ही ऐसे मत थे जिनमें कृष्णकथा प्रचलित थी। इसलिए स्वयम्भू की कथा का स्रोत जैन, बौद्ध और हिन्दू मतों में प्रचलित कृष्णकथाएँ ही होंगी।

पहले स्वमत पर ही विचार करें। जैन मत के प्रचार-प्रसार के लिए कृष्णकथा का उपयोग प्राकृतों से ही होता रहा है। 'नामाधम्म कहाओ', 'अंतगडदसाओ', 'उत्तर ज्झ एण' आदि जैनागमों में ई.स. के पूर्व पाँचवीं शताब्दी से लेकर ई.स. की पाँचवीं शती तक की विस्तृत कालावधि में होता रहा है। पर इन ग्रन्थों में त्याग, वैराग्य और संयम का उपदेश देने के लिए कृष्णचरित का उपयोग उपमा या दृष्टान्त के रूप में हुआ है। इसलिए यहाँ कृष्णचरित का पूरा विस्तार नहीं है।[1]

कहा जाता है कि *पउमचरिय* के रचयिता विमलसूरि ने रामकथा की भाँति कृष्ण काव्य की भी रचना की थी। सम्भव है कि स्वयम्भू के कृष्णकथा का स्रोत विमलसूरि का यह *हरिवंश चरिय* ही हो। इस सम्भावना के विरुद्ध दो बातें जाती हैं—एक तो विमलसूरि की कृति का अप्राप्त होना और दूसरा स्वयम्भू द्वारा इस सम्बन्ध में विमलसूरि का उल्लेख न करना।

जैन सम्प्रदाय में जिनसेन के *हरिवंश पुराण* को भी वही महत्त्व प्राप्त है जो रविपेण के *पद्मपुराण* को। किन्तु स्वयम्भू ने अपनी रचना में जिनसेन को भी याद नहीं किया है। प्रेमी जी का अनुमान सही जान पड़ता है कि स्वयम्भू दोनों जिनसेनों (हरिवंश पुराण कर्ता, जिनसेन और आदिपुराण कर्ता, जिनसेन) से कुछ पहले ही हो चुके होंगे। इसलिए *रिट्ठणेमिचरिउ* के सन्दर्भ में स्वयम्भू के स्वमत का आधार—'नामाधम्मकहाओ', 'अनन्तगडदसाओ', 'उत्तरज्झएण' आदि जैनागमों को ही मानना होगा।

जहाँ तक परमत का सवाल है उसका आसानी से अनुमान किया जा सकता है। कथा के आरम्भ में राजा श्रेणिक दूसरे मतों की कथा को उल्टी बताते हुए सन्देह प्रकट करता है—नारायण नर की सेवा करते हैं, बलराम खेती करते हैं, घोड़ों का संवरण करते हैं। धृतराष्ट्र और पाण्डु का जन्म नियोग से हुआ। द्रौपदी के पाँच पति थे। इस प्रकार असत्य कथन किया जाता है। भीष्मपितामह के बारे में श्रेणिक की शंका है कि उन्हें इच्छामरण का वरदान प्राप्त था तो उन्होंने कालगति क्यों की? द्रोणाचार्य यदि धनुर्विद्या में अजेय थे तो उनकी मृत्यु क्यों हुई? कर्ण यदि कान से पैदा हुआ तो उसे जन्म देनेवाली कुन्ती मर क्यों नहीं गयी? कहीं मनुष्य घड़े से उत्पन्न हो सकते हैं? फिर अगस्त्य मुनि घड़े से कैसे पैदा हुए? कहने की आवश्यकता नहीं कि ये शंकाएँ महाभारत और कृष्ण कथा की पौराणिक परम्परा पर आधारित है। शंकाओं का निराकरण समाधान करते हुए कथा तत्त्व महाभारत आदि ग्रन्थों से लिया गया है। अस्तु परमत का एक आधार कृष्ण कथा की महाभारत और पुराण परम्परा है। स्वयम्भू के यहाँ *हरिवंश पुराण* और बौद्ध मतों में प्रचलित कृष्ण कथा का भी प्रभाव लक्षित होता है। गौतम गणधर राजा श्रेणिक की शंकाओं का निवारण करते हुए कथा

1. *महाकवि स्वयम्भू* : डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 66

आगे बढ़ाते हैं। *रिट्ठणेमिचरिउ* के पहले भाग को स्वयम्भू यादवकांड कहते हैं। इसमें तेरह सन्धियाँ हैं, जिनमें कृष्ण के जन्म, बाललीला, विवाह की कथाएँ हैं। इस कांड में वासुदेव, कृष्ण और प्रद्युम्न तीन लीला नायक हैं। यहीं पर नेमिचरित का विस्तृत वर्णन है। नेमिनाथ कृष्ण के चचेरे भाई माने जाते हैं। यहाँ कृष्ण को भौतिक शक्ति और नेमिनाथ को आध्यात्मिक शक्ति के उत्कर्ष के प्रतीक के रूप में दिखाया गया है।

इसके बाद कुरुकांड में कौरव-पांडवों के जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा और आपसी वैमनस्य का वर्णन है। आगे होनेवाले कौरव-पांडव युद्ध की पृष्ठभूमि कवि ने इसी कांड में प्रस्तुत कर दी है। युधिष्ठिर का द्यूतक्रीड़ा में सब कुछ हारना और पांडवों का बारह वर्ष के लिए वनवास तक की कथा यहीं वर्णित है। युद्धकांड में कौरव-पांडव युद्ध का विस्तृत वर्णन है जिसमें कौरवों का पराभव दिखाया गया है।

जैन कृष्णकथा की सबसे बड़ी विशेषता नेमिचरित है। परम्परित कृष्णकथा में जहाँ कृष्ण सर्वोपरि माने जाते हैं वही जैन कथा में नेमिनाथ सर्वोपरि माने जाते हैं।

स्वयम्भू ने जिन *हरिवंश पुराण* को देखा हो या नहीं पर उनकी कथा उसी परम्परा में है। यद्यपि स्वयम्भू के यहाँ पर्याप्त स्वतन्त्रता ली गयी है।

तीर्थंकरों की प्रशस्ति, वसुदेव-प्रसंग, रोहिणी वृत्तान्त, कंस जन्म की कथा, कृष्ण जन्म, कंस वध, जरासन्ध-प्रसंग, द्वारका निर्माण, नेमि जन्म, रुक्मिणीहरण और विवाह, प्रद्युम्न-प्रसंग, शंब सुभानु की कथा आदि में कवि ने जैन मान्यताओं (यानी *जिन हरिवंश पुराण*) का अनुगमन किया है।

स्वयम्भू ने जहाँ स्वतन्त्रता दिखाई है वे स्थान कथा विस्तार से सम्बन्धित हैं। नागलीला-प्रसंग, पूतना-प्रसंग में स्वयम्भू जिन हरिवंश की अपेक्षा *हरिवंश पुराण* के मेल में है। जिन हरिवंश में प्रद्युम्न को कामदेव का अवतार नहीं माना गया है पर स्वयम्भू उन्हें कामदेव के अवतार के रूप में वर्णित करते हैं।

जिनसेन के हरिवंश और स्वयम्भू के हरिवंश में सबसे बड़ा अन्तर महाभारत युद्ध के वर्णन में दिखाई देता है। *जिन हरिवंश* में युद्ध वर्णन प्रसंगात किया गया है जबकि स्वयम्भू ने महाभारत के युद्ध का विस्तृत वर्णन किया है। युद्धकांड 33 से लेकर 93 सन्धि तक विस्तृत है और महाकाव्य का सबसे बड़ा हिस्सा है। निश्चय ही इस प्रसंग का आधार *महाभारत* है। जिनसेन के *हरिवंश* से स्वयम्भू के *हरिवंश* की एक विशिष्टता यह भी है।

5
काव्य-सौन्दर्य

काव्यरूप

स्वयम्भू की उपलब्ध कृतियों में *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* प्रबन्ध रचनाएँ हैं। अपभ्रंश साहित्य के सभी अध्येताओं ने इनको महाकाव्य माना है। महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा पर दोनों ग्रन्थ खरे उतरते हैं। दोनों सर्गबद्ध रचनाएँ हैं। दोनों की कथावस्तु अत्यन्त प्रसिद्ध है। दोनों के नायक ख्यातिप्राप्त तथा महान पुरुष हैं। दोनों की भाषा ग्राम्य दोषों से रहित साहित्यिक, पाण्डित्यपूर्ण, प्रवाहपूर्ण और प्रौढ़ है। दोनों काव्यों में जीवन की विभिन्न परिस्थितियों और अनुभूतियों का चित्रण हुआ है। प्राकृतिक दृश्य और वस्तु-वर्णन से युक्त इन ग्रन्थों में प्रचुर अलंकार-सौन्दर्य है। दोनों का अन्त जीवन की चरम सार्थकता का बोध कराते हुए शान्त रस में होता है। अस्तु, शास्त्रीय परिभाषा के आधार पर ये दोनों ही ग्रन्थ महाकाव्य ठहरते हैं।

महाकाव्य की विभिन्न कोटियों में इन ग्रन्थों को पौराणिक चरित महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। स्वयं कवि ने अपने ग्रन्थों को कहीं चरित तो कहीं पुराण कहा है। दरअसल स्वयम्भू के पहले संस्कृत और प्राकृत में जैन परम्परा के चरित और पौराणिक महाकाव्यों की रचना होती रही है। अपभ्रंश भाषा में पौराणिक और चरित महाकाव्य रचना के पुरस्कर्ता स्वयम्भू ही हैं। इन ग्रन्थों के कथा स्रोत की चर्चा की जा चुकी है। जैनागमों के अतिरिक्त कवि के सामने *रामायण* और *महाभारत* जैसे ग्रन्थ भी थे। स्वयम्भू का उद्देश्य मात्र धर्म ग्रन्थ की रचना करना नहीं, अपितु, काव्य ग्रन्थ की रचना करना था।

पउमचरिउ और *रिट्ठणेमिचरिउ* को पौराणिक महाकाव्य कहने का प्रमुख कारण इनका पुराणों की भाँति श्रोता वक्ता शैली में होना ही है। दोनों ग्रन्थों का आरम्भ राजा श्रेणिक की तर्कपूर्ण जिज्ञासा और उत्तर में समाधान के रूप में गौतम गणधर द्वारा कथा कहने से होता है। श्रोता-वक्ता शैली की निरन्तरता बनाये रखने के लिए कथा के बीच-बीच में प्रश्नोत्तर का यह क्रम दुहराया गया है। श्रोता-वक्ता की इस प्रमुख जोड़ी के अतिरिक्त अनेक श्रोता-वक्ता संवादरत मिलते हैं। कहीं पर

ऋषभ और अजित तीर्थंकर जैन धर्म के सिद्धान्तों का विवेचन करते पाये जाते हैं तो कहीं कोई केवली त्रिकाश पात्रों के भवान्तरों का कथन करते हुए मिल जाता है। कहीं भीष्म पितामह मृत्यु शैया पर पड़े-पड़े जिन धर्म का कर्मकांड बताते हैं तो नेमि तीर्थंकर यादव वंश के विनाश की भविष्यवाणी करते हैं। इस प्रकार दोनों ही काव्य-ग्रन्थों में श्रोता-वक्ता की शृंखला मौजूद है।

पौराणिक शैली के महाकाव्यों का एक लक्षण मुख्य कथा के बीच-बीच में आनुषंगिक कथाओं का समावेश होना है। दोनों काव्य-ग्रन्थ ऐसी आनुषंगिक कथाओं से भरे पड़े हैं। पूरा विद्याधरकांड आनुषंगिक कथाओं का ही कांड है। इसमें वानरों, विद्याधरों और राक्षसों की उत्पत्ति, कुल और युद्धादि का विस्तृत वर्णन है। मुख्य कथा से इस पूरे वृतान्त का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह अयोध्याकांड में वज्रकर्ण-सिंहोदर, कल्याणमाला, वनमाला, कपिल आदि प्रसंगों का मुख्य कथा से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। विद्युदंग नामक चोर और जटायु के अवान्तर प्रसंग भी यहीं मौजूद हैं। सुन्दरकांड की सुग्राव-विट सुग्रीव, हनुमान-महेन्द्र, दधिमुख-अंगारक की कथाएँ इसी कड़ी में हैं।

रिट्ठणेमिचरिउ के आरम्भ में वसुदेव की कथा का विस्तार भी अवान्तर कथा ही है। *रिट्ठणेमिचरिउ* या *हरिवंश पुराण* के मूल प्रतिपाद्य की दृष्टि से पूरी महाभारत कथा को ही यहाँ अवान्तर कथा माना जा सकता है। यह अलग बात है कि महाभारत कथा के विस्तार के नाते कवि को अन्य अवान्तर कथाओं के लिए विशेष अवसर नहीं मिल पाया है।

अलौकिक-अप्राकृत तत्त्वों की उपस्थिति पौराणिक महाकाव्यों की एक और अनिवार्य विशेषता है जो इन काव्यों में मिलती है। पात्रों की सिद्धियाँ और विद्याएँ उनकी मदद करती दिखायी गयी हैं। अलौकिक क्रिया-व्यापारों से घटना-वैचित्र्य का विधान भी उपलब्ध है। पौराणिक काव्यों की भाँति जन्मान्तर की कथा और उपदेशात्मक प्रवृत्ति *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* दोनों ग्रन्थों में पायी जाती है। साथ ही इनमें जैनमत सिद्धान्त विवेचन का विस्तार कथा-प्रवाह को शिथिल और अवरुद्ध भी करता है।

चरित काव्य में कथा नायक और उससे सम्बन्धित पात्रों का पूरा जीवन वृत्तान्त पाया जाता है। कथा नायक का समग्र जीवन ही चरित काव्य का वर्ण्य-विषय होता है। *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* दोनों में राम और कृष्ण तथा उनसे सम्बन्धित पात्रों का जीवन चरित आदि से अन्त तक वर्णित है। इसलिए इन काव्यों में चरित काव्य की विशिष्टताएँ भी मिलती हैं।

वस्तुतः पौराणिक और चरित काव्यों के लक्षण एक-दूसरे में इतने घुले-मिले होते हैं कि उनमें विशेष अन्तर नहीं माना गया है। अस्तु, स्वयम्भू के *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* को पौराणिक चरित महाकाव्य ही कहना उपयुक्त होगा। शास्त्रीय

परिभाषाओं के अलावा महाकाव्यों में 'औदात्यगुण' अति आवश्यक है। काव्यादर्श के प्रसंग में स्वयम्भू के काव्य के इस औदात्य की चर्चा की गयी है जहाँ समुद्र-सी गहराई है तो आकाश में छा जानेवाले मेघों-सी व्यापकता।

मार्मिक प्रसंग

प्रबन्धकार कवि की अनिवार्य विशेषता कथा के मार्मिक प्रसंगों की पहचान और उसे उचित विस्तार देना है। राम और कृष्ण कथा का मूलाधार प्रायः एक-सा है पर अलग-अलग प्रबन्धकारों के यहाँ ये कथाएँ अलग-अलग रंग लिये दिखाई देती हैं। यह अलग-अलग कवियों की कथा के मर्मस्थलों की पहचान और उन्हें मार्मिक विस्तार देने की सामर्थ्य पर निर्भर है। स्वयम्भू ने अपने दोनों ही काव्यों में इस क्षमता का पर्याप्त परिचय दिया है। उनमें मार्मिक स्थलों के पहचान और उनके हार्दिक अभिव्यक्ति की प्रभूत क्षमता है।

रामकथा में नाटकीय मोड़ राम के वनवास प्रसंग से आता है। कहाँ अयोध्यावासी राम को भावी राजा के रूप में देखने का मन बनाये हुए हैं और कहाँ उन्हें वन की यात्रा के लिए निकलते देख रहे हैं। पूरी अयोध्या शोकाकुल है। पानी भरते समय पनिहारिनें अपना दुख इस प्रकार प्रकट करती हैं, "वही पलंग है, वही तकिया, सेज भी वही है, वही चादर है, वही घर, वे ही रत्न और लक्ष्मण सहित वे ही चित्र कर्म। हे माँ केवल लक्ष्मण सहित राम दिखाई नहीं देते।"[1]

राजमहलों में रहनेवाली राजवधू जानकी का पहली बार घर के बाहर निकलना वनगमन के करुण प्रसंगों की पराकाष्ठा है। जानकी के घर से निकलने के दृश्य के लिए कवि उत्प्रेक्षा की माला तैयार करता है उसमें परिस्थिति की करुणा और मार्मिकता का आख्यान निहित है, "जानकी का निकलना ऐसा है मानो हिमालय से गंगा निकली हो, मानो छन्द से गायत्री निकल पड़ी हो, शब्द से विभक्ति और सत्पुरुष से कीर्ति ही निकल पड़ी हो।"[2] सत्पुरुष से कीर्ति के निकल पड़ने के बिम्ब में अन्तर्निहित व्यंजना पूरे प्रसंग के मर्म की प्रतीति करा देती है।

भरत कैकेयी के साथ राम को वापस बुलाने के लिए जाते हैं—पर व्यर्थ। राम दुबारा भरत को राजपट्ट बाँधकर आगे बढ़ जाते हैं। यात्रा में राम, लक्ष्मण और सीता का वनवासियों के जीवन से आत्मीयतापूर्ण तादात्म्य देखने लायक है। इस

---

1. सो पल्लङ्कु तं जें उवहाणउ। सेज्ज वि सज्जें तं जें पच्छाणउ ॥
तं घरु रयणइँ ताइ तं चित्तयम्मु स—लक्खणु।
णवर ण दीसइ माएँ रामु ससीय—स लक्खणु ॥ प.च. 24 सन्धि 1, 10-11
2. णं मन्दिरहों विणिग्गय जाणइ। णं हिमवन्तहों गङ्ग महा-णइ ॥
णं छन्दहो णिग्गय गायत्ती। णं सद्दहो णीसरिय विहत्ती ॥
णाइँ कित्ति सप्पुरिस—विमुक्की।... प.च. 23 सन्धि 6, 3-5

सहज-स्वच्छन्द जीवनचर्या में निर्वासन का दुख पीछे छूट जाता है। शिशिर काल में जनपद इस प्रकार शोभित था मानो नये धान के अंकुरों को सिर पर रखकर नाच उठा हो। कहीं मट्ठा बिलोनेवाली मथानी विलासिनी स्त्री की सुरति की तरह मधुर ध्वनि कर रही थी। कहीं पर नारी नितम्ब ऐसे शोभित थे मानो कुटज पुष्प मुख सुवासित कर रहा हो। कहीं पालने में बच्चे झुलाये जा रहे थे और उनको लोरियाँ सुनायी जा रही थीं। कवि टिप्पणी करता है, "स्त्रियों और परिजनों से घिरे हुए उस गोठ को देखकर जैसे उन तीनों को अपने बचपन की याद आ गयी।"[1] वनवासियों के जीवन की छवियों को देखकर बचपन की याद आना दरअसल उस जीवन से तादात्म्य स्थापित होने का प्रमाण भी है।

राम, लक्ष्मण, सीता वन यात्रा के क्रम में मिलनेवाले राजसुखों का त्याग करते हुए सामान्य पथिक की तरह जीवन व्यतीत करते हैं। रास्ते में सीता को प्यास लगती है। लक्ष्मण से जल लाने को कहते समय राम की कातरता देखते बनती है, "हे लक्ष्मण, कहीं से भी जल लाओ जो सज्जन के हृदय की तरह निर्मल हो, यात्रा से परिश्रान्त सीता प्यासी हैं, हिम से आहत नव कमलिनी की भाँति उनका मुँह कुम्हला रहा है।"[2]

इस यात्रा में सामान्य नर-नारी की भाँति उन्हें भूख, प्यास, भय, विस्मय, आमोद-प्रमोद की अनुभूतियों में निमग्न देखकर पाठक का मन चुपचाप इनकी यात्रा का सहभागी हो जाता है। प्यास से आकुल तीनों पथिक ताप्ती के किनारे पहुँचते हैं। नाम के अनुरूप ताप्ती का जल सूर्य की किरणों से इतना तप्त है कि बिल्कुल भी पेय नहीं है। पर प्यास ने इतना अधीर बना दिया है कि वे उसी तप्त जल को होठ से लगाकर प्यास बुझाने की नाकाम कोशिश करते हैं। यह विवशता देखने योग्य है। वे प्यास बुझाने के लिए ताप्ती का खौलता हुआ जल मुँह से लगाते हैं। उसे होठों से लगाते हैं पर निरर्थक! वह तप्त जल प्यास बुझाने में पूरी तरह असमर्थ है।[3]

वनयात्रा के समय राम, लक्ष्मण और सीता साधारण मनुष्य की तरह भूख प्यास

---

1. कत्थइ जणवउ सिसिरें चच्चिउ। पढम-सूइ सिरें धरें वि पणच्चिउ ॥
   कत्थइ मन्था-मन्थिय-मन्थणि। कुणइ-सद्दु सुरए व विलासिणि ॥
   कत्थइ णारि-णियम्बें सुहासिउ। णावइ कुडउ कुणइ मुहवासिउ ॥
   कत्थइ डिम्भउ परियन्दिज्जइ। अम्भाहीरउ गेउ झुणिज्जइ ॥
   तं पेक्खेप्पि गोट्ठु णारीयण-परियरियउ।
   णावइ तिहि मि जणेहि बालत्तणु संभरियउ ॥ प.च. 24 सन्धि 13, 5-9
2. लक्खण कहि मि गवेसहि तं जलु। सज्जण-हियउ जेम जं णिम्मलु ॥
   दूरागमणे सीय तिसाइय। हिम-हय-णव-णलिणि व विच्छाइय ॥ प.च. 26 सन्धि 6, 3-4
3. दिणयर-वर-किरण करिम्वियउ जलु लेवि भुँएहि परि-चुम्बियउ।
   पइसन्तु-ण-भावइ मुहहों किह अण्णाणहों जिणवर-वयणु जिह ॥ प.च. 27 सन्धि 11, 9

से विकल होने के बावजूद प्रकृति की शोभा पर मुग्ध होते दिखाई पड़ते हैं। स्वयम्भू साहित्य के अध्येता डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय के अनुसार, "सीताहरण के पूर्व राम-लक्ष्मण-सीता के वनवास जीवन की दिनचर्या अपनी गतिमयता से जितना ही हमें जिज्ञासु बनाये रखती है; हिम वर्षा = आतप एवं क्षुधा = तृष्णा को सहज भाव से सहते हुए उनके व्यक्तिगत जीवन की आन्तरिक शान्ति हमें उतना ही विस्मय विमुग्ध बना देती है।"[1]

सीताहरण की घटना इस जीवन लय को बाधित करती है। वियुक्त राम के हृदय में सीता के विरह का सर्वातिशायी दुख ऐसे विलाप में प्रकट होता है जिसमें जड़-चेतन सभी शामिल होते हैं। विरही राम का चित्रण कवि इन शब्दों में करता है, "निर्धन, लक्षणहीन, कामातुर की भाँति राम वन में 'हा सीता हा सीता' करते हुए घूमते हैं।"[2] वनदेवी से कहते हैं मुझे क्यों दुख देती हो। मेरी कान्ता का पता बताओ। तुलसीदास के राम 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी तुम देखी सीता मृग नैनी' कहते हैं तो स्वयम्भू के राम का मत्त गजराज से यह पूछना सहज ही याद आता है, मेरी कामिनी के समान सुन्दर गतिवाले हे कुंजर क्या तुमने कहीं मेरी मृगनैनी को देखा है?[3]

यह 'उन्माद' की वह अवस्था है जिसमें राम को चारों तरफ़ सीता-ही-सीता दिखाई देती हैं, "अपनी ही प्रतिध्वनि उन्हें प्रताड़ित करती है क्योंकि उसे सुनकर उन्हें लगता है कि सीता उन्हें पुकार रही हैं। कहीं नील कमलों को अपनी पत्नी के विशाल नयन समझ बैठते हैं, कहीं हिलते हुए अशोक वृक्ष को समझते हैं कि सीता की बाँह हिल रही है।[4]

इस प्रकार राम समस्त वन और धरती पर जड़चेतन में सीता को खोजते हैं। वापस अपनी कुटिया में लौटने पर सीता को न पाकर राम धनुष बाण किनारे रखकर धरती पर गिर पड़ते हैं। सीता के वियोग में राम की दशा भग्नदन्त गज, छिन्नशाखा वृक्ष, फणि-रहित सर्प, वज्राहत पर्वत, राहुग्रस्त चन्द्र, जल रहित मेघ और अग्नि-दग्ध वन की-सी हो गयी है।

राम की विरह दशा जितनी मर्मस्पर्शी है रावण द्वारा हर कर ले जायी जाती हुई सीता का विलाप भी उतना ही दारुण है। जटायु का प्रयत्न विफल होने के बाद

---

1. *महाकवि स्वयम्भू* : संकटाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 149
2. णिद्धणु लक्खण-वज्जियउ अण्णु वि वहु-वसणेहिँ मुत्तउ।
   राहउ भमइ भुअंगु जिह वणे 'हा हा सीय' भणन्तउ। *प.च.* 39 सन्धि 11, 8
3. हे कुंजर कामिणि-गइ-गमण। कहें कहि मि दिट्ट जइ मिगणयण। *प.च.* 39 सन्धि 12, 4
4. णिय-पडिरवेण वेयारियउ। जाणइ सीयएं हक्कारियउ ॥
   कत्थइ दिट्ठइं इन्दीवरइं। जाणइ धण-णयणइं दीहरइं ॥
   कत्थइ असोय-तरु हल्लियउ। जाणइ धण-बाहा-डोल्लियउ ॥ *प.च.* 39 सन्धि 12, 5-7

सीता देवताओं को धिक्कारते हुए कहती हैं, "अरे अरे रण में दुर्विदग्ध देवो! तुमसे तो चंचुजीवी जटायु पक्षी का शौर्य अच्छा है। वह कम-से-कम रावण से युद्ध में भिड़ा तो। तुम अपना बड़प्पन नहीं रख सके।" यहाँ देवताओं का चरित्र कवि के ध्यान में है, "को सुरवर-सण्ढेहि रखिज्जइ' अर्थात् भला देव समूह ने कभी किसी की रक्षा की है। अस्तु देवताओं को पुकारने या धिक्कारने से कोई लाभ न होना था। सीता का करुण विलाप भय और सन्त्रास की इस दशा में उनके चरम असहाय बोध को व्यक्त करता है। सीता कहती हैं, "यह पापी तीनों लोकों में मुझे अनाथ समझकर इस तरह अपमानित करके ले जा रहा है। यदि राम और लक्ष्मण यहाँ होते तो मुझे इस तरह विलपती हुई को कौन ले जा सकता था? हे दशरथ, हे गुण-समुद्र मामा, हे पिता जनक, हे अपराजित, हे कैकेयी, हे सुप्रभा, हे सुन्दरमति सुमित्रा, हे शत्रुघ्न, हे भरतेश्वर, हे सहोदर भामंडल, हे राम लक्ष्मण। अभागिनी आज मैं किससे कहूँ किसको याद करूँ, मुझे कौन सहारा देगा, अपना इतना भारी दुख किससे निवेदन करूँ? मैं जहाँ-जहाँ जाती हूँ, वहीं आग जल उठती है।"[1]

इस प्रकार स्वयम्भू ने सीताहरण-प्रसंग की मार्मिकता को पूरी गहराई से अनुभव कर अत्यन्त प्रभावशाली अभिव्यक्ति दी है। राम का विरहजन्य ताप और सीता की असहायता दोनों ही पाठक के मन को छू लेते हैं।

भ्रातृ स्नेह, मानव जीवन का एक मूल्यवान पहलू है। इसीलिए भाई के बिछोह या बिछोह की आशंका में होनेवाली व्यथा असह्य होती है। और भाई यदि लक्ष्मण जैसा हो तब व्यथा का पारावार नहीं होता। लक्ष्मण को शक्ति लगने का प्रसंग ऐसी ही मार्मिकता लिए हुए है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर उनके धरती पर गिरते ही पहले तो राम रावण से भिड़ जाते हैं और छः बार उसे रथहीन कर देते हैं, फिर भाई की दशा देख मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा के टूटते ही लक्ष्मण के विभिन्न नामों और उनके शौर्यपूर्ण कार्यों को याद करते हुए दैव को कोसते हैं जिसने भाई, पत्नी, माता और पिता सबसे वियुक्त कर दिया। राम के लिए संसार में कोई ऐसा दुख नहीं है जो भाई के वियोग दुख से बड़ा हो—

1. हउं पावेण एण अवगण्णेंवि। णिय तिहुअणु अ-मणूसउ मण्णेंवि ॥
पुणु वि कलुणु कन्दन्ति पयट्टइ! एँहु अवसरु सप्पुरिसहों वट्टइ ॥
अह मइँ कवणु णेइ कन्दन्ती। लक्खण-राम वे वि जइ हुन्ती ॥
हा हा दसरह माम गुणोवहि। हा हा जणय जणय अवलोयहि ॥
हा अपराइएं हा हा केक्कइ। हा सुप्पहें सुमित्ते सुन्दर-मइ ॥
हा सत्तुहण भरह भरहेसर। हा भामंडल भाइ सहोयर ॥
हा हा पुणु वि राम हा लक्खण। को सुमरमि कहो कहमि अ-लक्खण ॥
'को संथवइ मइ को सुहि कहों दुक्कखु महत्तउ।'
'जहिं जहिं जामि हउं तं तं जि पएसु पलित्तउ ॥' —प.च. 38 सन्धि 15, 2-9

शत्रु राजा के चक्र से आहत हो जाना अच्छा? अच्छा हो, शीघ्र ही क्षयकाल आ जाए। अच्छा हो मैं कालकूट विषपान कर लूँ, अच्छा है कि मैं यम के शासन को अपनी आँखों से देख लूँ। अच्छा है, मैं थोड़ी देर अस्थिपंजर में सो लूँ। अच्छा है यम की दाढ़ के भीतर सो जाऊँ, अच्छा है कोई जलती हुई आग में धक्का दे दे। अच्छा है, घूमते हुए बड़वानल में पड़ जाऊँ। अच्छा है, मेरे सिर पर वज्र गिर पड़े, अच्छा है, मनचाहा होनहार मेरा काम तमाम कर दे, अच्छा है यम महिष की असह्य चपेट में आ जाऊँ, अच्छा है भीषण दृष्टिवाला महाकाल रूपी साँप मुझे डस ले। अच्छा है सिंह अपने नखों से मुझे आहत कर दे, अच्छा है कलिकाल रूपी शनीचर की नज़र मुझ पर पड़ जाए। अच्छा हो, मैं खुद को हाथी दाँतों की नोकों से टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। अच्छा हो मुझे नरक के दुख देखने पड़ें, परन्तु भाई का वियोग न हो।[1] राम के दारुण विलाप से सुग्रीव, भामंडल, विराधित, विभीषण, अंगद, नल-नील, जामवन्त आदि योद्धा ही नहीं, दिशाएँ भी दुख से द्रवित हो उठती हैं।

लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने पर राम के विलाप की चर्चा प्रायः सभी ने की है पर स्वयम्भू की सहृदय दृष्टि भरत की व्यथा पर भी पड़ती है। ध्यान रहे कि यह वही भरत हैं जो राम से वन में मिलने आ रहे थे तो लक्ष्मण ने उन्हें शंकाकुल दृष्टि से देखा और उनसे लड़ने की पूरी तैयारी की थी। ऐसे भाई लक्ष्मण के लिए भरत के मन का हाहाकार स्वयम्भू की वाणी में इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है—

रत्नाकर में रत्नों की खान पायी जाती है। कोयल कुल में मीठी बोली मिलती है। मलय पर्वत में चन्दन मिलता है, युवतियों के अंग में सुख मिलता है, कुबेर से धरती भर सोना मिलता है, सोने की आग से सुवर्ण की प्राप्ति होती है, सेवा से ही स्वामी का प्रसाद मिलता है, विनय करने पर ही जनता का प्रेम मिलता है, सज्जन होने पर ही गुण, दान और यश की उपलब्धि होती है, असिवर में श्री और गुरुकुल में परमवृत्ति मिलती है। वशीकरण से स्त्री रत्न मिलता है, महाकाव्य में सुभाषित और सुकवि वचन मिलते हैं। उपकार करने की भावना से अच्छा मित्र मिलता है, कोमलता

---

1. वरि पहरिउ पर-णरवर-चक्कएं। वहि खयकालु ढुक्कु अत्थक्कएं ॥
वरि तं काल कूडु विसु भक्खिउ। वरि जम-सासणु णयण कडक्खिउ ॥
वरि असि पंजिरे थिउ थोवन्तरु। वरि सेविउ कयन्त-दन्तन्तरु ॥
झम्प दिण्ण वरि जलणे ँ जलन्तएं। वरि वगलामुहें भमिउ भमन्तएं ॥
वरि वज्जासणि सिरेँण पडिच्छिय। वरि ढुक्कन्ति भवित्ति समिच्छिय ॥
वरि विसहिउ जम-महिस-झडक्किउ। भीसण-काल दिट्ठि अहि-डकिउ ॥
वरि विसहिउ केसरि-णह-पंजरु। वरि जो इउ कलि-कालु सणिच्छरु ॥
'वरिदन्ति-दन्त-मुसलग्गेहिँ, विणिभन्दाविउ अप्पणउ।'
'वरि णरय-दुक्खु आयामिउ णउ विजोउ भाइहे तणउ ॥' प.च. 67 सन्धि 4, 2-9

से संघर्ष मिल सकता है, उत्तम वैदूर्य पर्वत के मूल में वैदूर्य मणि, वज्र पर्वत से विशाल वज्र मिल सकता है, विजय मिलने पर ये सब चीजें प्राप्त की जा सकती हैं, लेकिन भाई नहीं मिल सकता।[1] लक्ष्मण के गिर पड़ने पर भरत कहते हैं, "मेरी तो दाहिनी भुजा ही कट गयी—महुणिवडिऊसि दाहिणउ पाणि!"

भरत ही नहीं, स्वयम्भू का ध्यान रावण की मृत्यु पर विभीषण की भावदशा पर भी गया है। आख़िर विभीषण भी भाई ही था। रावण को छोड़कर विरोधी पक्ष से मिल गया था। रावण की मृत्यु के बाद भाई के वियोग के साथ ग्लानि और पश्चात्ताप की दोहरी व्यथा से उसका हृदय दो टुकड़े हो गया था। लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने पर राम के विलाप पर कई कवियों का ध्यान गया है। पर स्वयम्भू के कवि हृदय ने विभीषण की इस मनोदशा को पर्याप्त सहानुभूति दी है। विभीषण का हृदय इन शब्दों में व्यक्त हुआ है—

"हे भाई यह दुर्निद्रा छोड़ो। सेज छोड़कर ज़मीन पर क्यों सोये हो? हमारी अवहेलना क्यों कर रहे हो? यह लो मैं अपने सीस पर तुम्हारा चरण रख रहा हूँ। हे भट्टारक, तुम्हारे आलिंगन से अथवा आलिंगन के लिए हृदय फूट रहा है, चित्त उन्मथित हो रहा है।"[2]

मृत व्यक्ति के प्रभाव के अनुरूप ही उसके लिए किया गया विलाप मार्मिक और प्रभावशाली होता है। रावण की मृत्यु साधारण घटना नहीं है। विभीषण कहता है—

"अरे रावण, तू नहीं अस्त हुआ है, राक्षसवंश का अस्त हो गया, तू नहीं पराजित हुआ था, सारा त्रिभुवन पराजित हो गया था, तू नहीं मरा, समस्त वन्दीजन मर गये। यह तेरा पतन नहीं पुरन्दर का ही पतन है, तेरा मुकुट भंग नहीं हुआ, मन्दराचल ही भंग हो गया, तेरी दृष्टि नष्ट नहीं हुई लंकापुरी ही नष्ट हो गयी, तेरी

---

1. लब्भइ रयणायरें रयण-खाणि। लब्भइ कोइलु-कुलें-महुर-वाणि ॥
   लब्भइ चन्दणु गिरि-मलय सिङ्गे। लब्भइ सुहवत्तणु जुवइ-अङ्गे ॥
   लब्भइ धणु धणएँ धरा-पवण्णु। लब्भइ कञ्चण-पावएँ सुवण्णु ॥
   लब्भइ पेसणें सामिय-पसाउ। लब्भइ किएँ विणए जणाणु राउ ॥
   लब्भइ सज्जणें गुण-दाण-कित्ति। सिय असिवरें गुरु कुलें परम तित्ति ॥
   लब्भइ वसियरणें कलत्त-रयणु। महकव्व सुहासिउ सुकइ-वयणु ॥
   लब्भइ उवयार-मइएँ सु-भित्तु। मद्दवें हि विलासिणि-चारु-चित्तु ॥
   लब्भइ पर-तीरें महग्घु भण्डु। वह-वेलु-मूलें वेडुज्ज-खण्डु ॥
   गए मोत्तिउ सिङ्घल दीवे मणि वइरागरहों वज्जु पउरु।'
   आयइँ सव्वइँ लब्भन्ति जएँ णवर ण लब्भइ भाइ वरु ॥ प.च., 69 सन्धि 12, 1-9
2. हा भायर, दुण्णिद्दएँ भुत्तउ। सेज्ज मुएँवि कि महियले सुत्तउ ॥
   किं अवहेरि करे वि थिउ, सीसे चडाविय चलण तुम्हारा ॥
   अच्छमि सुट्ठम्माहियउ, हिअउ फुट्ट आलिंगि भडारा ॥ प.च. 76 सन्धि 2, 8-9

वार्ता नष्ट नहीं हुई मन्दोदरी ही नष्ट हो गयी, तेरे हार नहीं टूटे, तारागण ही टूट गये हैं, तेरा हृदय नहीं भिंदा गगन ही भिंद गया है, चक्र खंडित नहीं हुआ, अन्तर ही खंडित हो गया है, आयु नहीं समाप्त हुई, सागर ही सूख गया है, तेरे प्राण नहीं गये, हम सबकी आशा का भांडार ही चला गया, तू नहीं सोया है, सारा संसार ही सो गया है, हे रावण तू सीता को नहीं, यमपुरी को लाया था, राम लक्ष्मण ही नहीं, सिंह ही क्रुद्ध हो गया था।"[1]

इस विलाप में रावण की प्रभुता के जगद्व्यापी विस्तार का बोध तो होता ही है, ग्लानि और शोक से भरे विभीषण के हृदय का प्रसार भी दिखाई देता है। धरती पर मृत पड़े रावण की एक-एक वस्तु के लिए उपमानों की जो शृंखला प्रस्तुत की गयी है वह कवि के हार्दिक भाव बोध का प्रमाण है। इस विलाप के बीच आयु जैसी सूक्ष्म चीज़ के ख़त्म होने के लिए समुद्र जैसी मूर्त चीज़ के सूख जाने की उपमा अद्भुत है। रावण की आयु का क्षय होना समुद्र के सूख जाने जैसा असम्भव है। ऐसे असम्भव के सम्भव होने पर जैसा दारुण विलाप होना चाहिए विभीषण का विलाप वैसा ही दारुण है।

मन्दोदरी का विलाप भी कम दारुण नहीं है। युद्धभूमि में कल्पवृक्ष की तरह गिरे बीस बाहु रावण के लिए विलाप करती हुई मन्दोदरी का यह कथन, "माना कि तुम्हें बहुत नींद लग रही है, पर इस तरह पृथ्वी पर सोना अच्छा नहीं लगता।" उसकी करुण दशा के शीर्ष की व्यंजना करता है।

सीता का निर्वासन और अग्नि-परीक्षा की कहानी युगों-युगों से स्त्री पर होनेवाले पुरुष अत्याचार की दास्तान है। इस प्रसंग में अधिकांश कवियों ने चुप रहना मुनासिब समझा है। पर स्वयम्भू का कवि हृदय इस अन्याय के विरुद्ध खड़ा होता है और सीता के बहाने स्त्री की करुण दशा को पर्याप्त सहानुभूति देता है। इसकी चर्चा अन्यत्र की गयी है।

पउमचरिउ की तरह *रिट्ठणेमिचरिउ* में भी कवि की इस प्रतिभा का भरपूर परिचय मिलता है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही वसुदेव-प्रसंग अत्यन्त मनोहारी है।

---

1. रुअइ विहीसणु सोयक्कमियउ। तुहु णत्थमिउ वंसु अत्थमियउ ॥
तुहुँ ण जिओऽसि सयलु जिउ तिहुअणु। तुहु ण मुओऽसि मुअउ वन्दिय जण ॥
तुहुं पडिओऽसि ण पडिउ पुरन्दरु। मउडु ण भग्गु भग्गु गिरि-मंदरु ॥
दिट्ठि ण णट्ठ णट्ठ लंकाउरि। वाय ण णट्ठ णट्ठ मन्दोयरि ॥
हारु ण तुट्टु, तुट्टु तारायणु। हियउ ण भिण्णु भिण्णु गयणङ्गणु ॥
चक्कु ण ढुक्कु ढुक्कु एङ्कन्तरु। आउ ण खुट्टु खुट्टु रयणाकरु ॥
जीउ ण गउ गउ आसा-पोट्टलु। तुहु ण सुत्तु सुत्तउ महिमंडलु ॥
सीय ण आणिय आणिय जमउरि। हरि-वल कुद्ध ण कुद्धा केसरि ॥ प.च. 76 सन्धि 3, 1-8

आमतौर पर काव्य में स्त्री के रूप सौन्दर्य के मुग्धकारी प्रभाव की चर्चा होती है। स्वयम्भू ने यहाँ पुरुष सौन्दर्य के प्रभाव पर ध्यान केन्द्रित किया है। वसुदेव इतने सुन्दर हैं कि उन्हें देखकर नगर की स्त्रियाँ औचित्य की सीमा का अतिक्रमण करके ऐसी विह्वल होती हैं कि विपरीत आचरण करने लगती हैं। वसुदेव के रूपदर्शन का प्रभाव यह है कि स्त्रियों की दृष्टि वसुदेव पर एक बार जाकर फिर हट नहीं पाती। स्वयम्भू ने इसके लिए अत्यन्त मार्मिक उपमा दी है। जिसकी दृष्टि जहाँ (जिस अंग पर) गयी उसकी दृष्टि उसी अंग पर ठहर गयी जैसे दुर्बल पशु कीचड़ में फँसकर निकल नहीं पाते।[1]

कीचड़ में फँसे दुर्बल पशु की तरह स्त्रियों के दृष्टि की बेबसी देखने योग्य है। नगर की स्त्रियों का हाल यह है कि—युवा वसुदेव के निकलने पर कोई निकल पड़ती है, प्रवेश करने पर प्रवेश करती है फिर भी तृप्त नहीं होती। बेबसी यह है कि कामदेव की ज्वाला में दग्ध होती हुई भी वे अपने प्राणों को मुक्त नहीं कर पातीं। वसुदेव के रूप से ऐसा मोह है कि घर के काम में मन नहीं लगता। घर-घर मनौती मानी जा रही है कि यक्ष दम्पति किसी प्रकार मिलाप करवा दें। किसी का शरीर ज्वर से पीड़ित है तो किसी का ललाट पसीना-पसीना हो रहा है। ऐसा कोई घर, ऐसा कोई चबूतरा, ऐसी कोई सभा नहीं थी जिसमें वसुदेव की कथा न होती हो। किसी को पति की उपस्थिति इतनी दग्धकारी लगती है जैसे आग हड्डियाँ जलाती हो। कोई सखी यह कहती है कि वह सुभग मेरे हृदय से अलग ही नहीं होता। ऐसे में आभूषण, भोजन, स्नान फूल और लेप कुछ भी अच्छे नहीं लगते।[2]

वसुदेव के रूप के प्रभाव के साथ ही कवि स्त्री पर पुरुष की अधिकार चेष्टा की व्यर्थता इन शब्दों में प्रकट करता है—

यद्यपि देवर, ससुर और पति के द्वारा शरीर की रक्षा की जाती है लेकिन पूर्ण

---

1. जाहे जहिं जि गय दिट्ठी ताहे तहिं जि वि थक्कइ।
दुब्बल ढोर इव पंके पडिय ण उट्ठिवि सक्कइ ॥7॥ *रिट्ठणेमिचरिउ* (यादव कांड 1.7)

2. जुवे णिक्कलंति णिक्कलइ कवि। पइसंते पइसइ तत्ति ण वि ॥
काउ वि मयणग्गि झुलिक्कियउ। कह कह वि ण पाणहिं मुक्कियउ ॥
घरे कम्मु ण लग्गइ तियमइहिं। वसुएउ-रूव मोहिय-मइहिं ॥
उवाइउ किज्जइ घरि जि धरे। मेलावउ जक्ख-दउत्ति करे ॥
काहे वि सरीरु जर-खेइयउ। काहे वि णिल्लाडु पसेइयउ ॥
तं ण घरु ण चच्चरु ण वि सह। जहिं णउ वसुएवहो तणिय कह ॥
काहिं वि पइपासि परिट्ठियउ। णाइं डहइ हुवासणु अट्टियउ ॥
बोल्लाविय कावि वयंसियए। सो सुहउ ण फिट्टइ महु हियहे ॥
णाहरणु णवि रुच्चइ भोयणउ। ण ण्हाणउ णवि फुल्लु विलेवण उ ॥
रिट्ठणेमिचरिउ (यादव कांड 1 सन्धि, 8)

स्नेह से रचित चित्त को कौन बचा सकता है।[1]

वहरहाल इस प्रसंग की समाप्ति भी अत्यन्त मार्मिक ढंग से होती है। नगरवासियों के प्रतिवाद पर राजा समुद्र विजय अपने भाई वसुदेव का घर से निकलना प्रतिवन्धित कर देता है। वसुदेव चुपके से घर से निकलकर श्मशान भूमि में जाते हैं और छद्म तरीके से अग्नि प्रवेश करके अपनी मृत्यु प्रचारित करके विभिन्न नगरों की यात्रा पर निकल पड़ते हैं।

आगे चलकर *रिट्ठणेमिचरिउ* में कृष्णलीला का मार्मिक प्रसंग दिखाई पड़ता है। सूरदास के यहाँ कृष्णलीला का जो महासागर प्रवाहित होता दिखाई पड़ता है उसके बीज रूप यहाँ देखे जा सकते हैं। यहाँ कृष्ण की बाललीला में सिर्फ वे ही प्रसंग हैं जिनका सम्बन्ध कंस द्वारा कृष्ण को मारने के लिए की गयी युक्तियों से सम्बन्धित है। पूतनावध, मायाशकट, गोवर्धन धारण, यमलार्जुन वृक्षों का नष्ट किया जाना, कालियानाग के नाथे जाने से लेकर कुवलयगज, चाणूर और मुष्टिक सहित कंस वध तक के प्रसंग हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी प्रसंग कृष्ण के शक्ति रूप का निदर्शन करनेवाले हैं। इन सभी बाधाओं का सामना करते हुए कृष्ण के वीर रूप की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना हुई है। कालियानाग को पकड़ने का प्रसंग है। केशव, कालियानाग और कालिन्दी जल तीनों काले हैं इसलिए सब कुछ अन्धकारमय हो गया है। कृष्ण को नाग दिखाई नहीं दे रहा है। ऐसे में कालियानाग उन्हें घेर लेता है। उसे खोजते हुए घिरे हुए कृष्ण ऐसे लगते हैं मानो समुद्र में विषधरों से घिरा हुआ मन्दराचल चल रहा हो।[2]

इस संघर्ष की समाप्ति इस प्रकार होती है : अपने तेज से असुरों को पराजित करनेवाले नारायण को कालियानाग दिखाई नहीं दिया। भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी नाग ज्ञात नहीं हो सका। इतने में नाग के फण के मणियों का समूह चमका। उसके प्रकाश से साँप को जाना जा सका। गुणों के कारण कौन बन्धन को प्राप्त नहीं होता? तब हज़ारों युद्धों में दुर्दम्य श्रीकृष्ण ने अपना बाहुदण्ड फैलाया जो पाँचों अँगुलियों के पाँचों नखों से उज्ज्वल अंगवाला था और ऐसा लगता था जैसे चमकते हुए फणमणियोंवाला श्रेष्ठ साँप हो। उन उँगलियों से साँप के फण समूह को पकड़ लिया गया। यह मालूम नहीं हो सका कि उनमें कौन हाथ है और कौन साँप। नव सूर्य के उदित होने पर ही जाना जा सका कि लक्ष्मी का संगम करनेवाले श्रीकृष्ण ने साँप को पकड़ लिया है। विह्वल साँप आक्रमण करता है। कवि की टिप्पणी है—लेकिन गारुड़ी का साँप क्या कर सकता है? श्रीकृष्ण ने साँप को नाथकर आकाश में इस प्रकार घुमा दिया जैसे

1. देवर-ससुर-पईहिं महु सरीरु रक्खिज्जइ।
णिब्भरणेह-णिवंधु-चित्तु केण धरिज्जइ॥ *रिट्ठणेमिचरिउ* (यादव कांड 1 सन्धि, 8)

2. जउणादहे एक्कु मुहुत्तु केसव सलिल कील करइ।
रयणायरे मन्दरु णाइ विसहर—वेढिउ संचरइ॥ *रिट्ठणेमिचरिउ* (यादव कांड 6/2)

कंस के लिए उन्होंने भयंकर कालदण्ड उठाया हो।[1] श्रीकृष्ण के वीररूप की मोहकता के मूल में विद्यमान गतिमयता को मूर्त करने में कवि सफल हुआ है।

कृष्ण के माधुर्य रूप की ओर भी कवि का ध्यान गया है। बाललीला के क्रम में ही स्वयम्भू ने देवकी के नन्दगाँव आने की उद्भावना की है। देवकी उपवास के बहाने यशोदा के घर कृष्ण की बाललीला देखने जाती हैं। देवकी कृष्ण को जिस रूप में देखती हैं और जिस तरह देखती हैं, वह अत्यन्त मार्मिक है—

वसुदेव की गृहिणी देवकी ने वासुदेव कृष्ण को इस प्रकार देखा मानो हथिनी ने हाथी के बच्चे को देखा हो। पीले वस्त्रवाले वह महामेघ की तरह स्याम हैं और सिर पर कमलमाल स्थित है। कोई गोपी उनके पीछे पड़ गयी है : कृष्ण तुमने मेरी मथानी तोड़ी है, तुम्हें तब तक यहीं ठहरना होगा जब तक तुम मेरे आँगन में नहीं पहुँचते और मुझे आलिंगन नहीं देते। कोई गोपी सौ बार घोषित करती है, "तुम्हें नन्द की शपथ है यदि विमुख होकर तुम एक भी क़दम रखो, एक बार मुँह सामने करके देखो।" रस क्रीड़ा से प्रदीप्त कोई गोपी कृष्ण के शरीर की कान्ति में छिपकर बैठ गयी। क्रीड़ा करते हुए बालक कृष्ण को देवकी इस प्रकार देखती है जैसे सुकान्त को धन-ऋद्धि मिल गयी हो।[2] आख़िर ऐसा क्यों न हो? कंस जैसा आततायी जिस बेटे का शत्रु हो, जिसके कारण जन्म लेते माँ से अलग हो जाना पड़ा हो उस बेटे को इस प्रकार स्वस्थ, सानन्द और रस क्रीड़ा में लीन देखकर किस माँ की छाती नहीं भर उठेगी। स्वयम्भू

---

1. णियकंतिए असुर-परायणेण। कालिउ ण दिट्ठु णारायणेण ॥
   उप्पण्ण भंतिणउ णाउ णाउ। विप्फुरिउ ताम फणिमणि-णिहाउ ॥
   उज्जोएं जाणिउ परमचारु। को गुणेहिं ण पाविउ बंधणारु ॥
   तो समरसहासहिं दुम्महेण। भुयदंड पसारिय-महुमहेण ॥
   पंचंगुलि पंच णहुज्जलंग। णं फुरिय फणामणि-वर भुयंग ॥
   तहो तेहि धरिज्जइ फणकडप्पु। णउ णायइ को करु कवणु सप्पु ॥
   लक्खिज्जइ णवरवि-उग्गमेण। उज्जलउ लइउ सिरि-संगमेण ॥
   विहडप्फड-फणि झडप्प देइ। गारुडियहो विसहरु किं करेइ ॥
   णत्थेप्पिणु महुमहणें कालिउ णहयले भामिउ।
   भीसावणु कंसहो णाइं काल दंड उग्गामिउ ॥ *रिट्ठणेमिचरिउ* (यादव कांड 6/3)
2. वासुएव वसुएव घरिणिए। कलह करेणु दिट्ठु णं करिणिए ॥
   पीयलवासु महाघण-सम्पउ। सिर कमल टिठ्य-कुवलयदम्मउ ॥
   कावि गोवि तहों पच्छइ लग्गी। थक्कु कण्ह पइं मंथणी भग्गी ॥
   जइ ण महारउ ढुक्कहि पंगणु। एक्कसि जइ ण देहि आलिंगणु ॥
   कावि गोवि सयवारउ घोसइ। णंदहो तणिय आण तउ होसइ ॥
   जइ एक्कु विपउ देहि परंमुहु। एक्कवार जोयहि सवडंमुहु ॥
   कावि गोविर रसरंग-पलक्की। हरितणु कंतिहे ल्हिक्किवि थक्की ॥
   एम णियंति कीलंतहो वालहो। धणरिद्धि णं मिलिय सुकालहो॥ *रि.च.* (यादव कांड 5-10)

कहते हैं, "पुत्र के संगम के कारण देवकी का दूध झरता स्तन कहीं भी नहीं समाता। देवकी के पयोधरों से श्रीकृष्ण उसी प्रकार अभिषिक्त हुए जिस प्रकार महीधर मेघों से अभिषिक्त होता है।"[1]

कृष्ण की बाललीला रंजित करती है तो देवकी का यह वात्सल्य मन को आर्द्र कर देनेवाला है।

अज्ञातवास काल में सैरन्ध्री बनी द्रौपदी पाँचों पतियों के रहते हुए कीचक द्वारा अपमानित की जाती है। द्रौपदी जैसी तेजस्वी स्त्री का अमर्ष हृदय को छू लेता है। दिन का काम-काज निपटाकर रात में द्रौपदी भीम के पास जाती है। भीम द्रौपदी से दुख का कारण पूछते हैं। अमर्ष से भरी द्रौपदी कहती है, "मुझे कौन-सा सुख है।"[2] जब तुम लोगों की यह दशा है तो मेरे लिए धीरज का कारण क्या है। ऐसे शूरवीर पतियों के रहते हुए भी मुझे क्या सुख मिला। सुख तो दूर की बात है उल्टे पतियों के सामने ही इस तरह अपमानित होना पड़ रहा है। यदि इसी का नाम जीवन है तो फिर मरण क्या है? हम एक देश से दूसरे देश भटकते फिरे और इस प्रकार हमने वन में बारह वर्ष और उनके ऊपर ग्यारह महीने और उनके भी ऊपर पन्द्रह दिन बिता दिये। फिर भी दुख और क्लेश का अन्त नहीं हुआ इससे तो मर जाना अच्छा, जीने से क्या लाभ?[3]

विडम्बना यह कि द्रौपदी के अमर्ष और दुःख भरे वचन सुनकर अपरिमित वलवाले भीम अपने स्वभाव के विपरीत कर्मफल के रूखे हाथों आँसू पोंछना चाहते हैं, "हे द्रौपदी! पूर्व जन्म में किये कर्मों का वृक्ष सुख-दुख रूप दोनों फल देता है। देखो, क्या रावण ने सीता को थोड़ा दुःख पहुँचाया था?"[4] भीम का यह उपदेश प्रसंग की मार्मिकता को और बढ़ा देता है।

इसी तरह स्वयम्भू ने अभिमन्यु वध प्रसंग का अत्यन्त मार्मिक दृश्य उपस्थित किया है। वीर और करुण रस के मिश्रित युगल से कवि प्रत्येक भावुक संवेदनशील हृदय को अपने साथ बहा ले जाता है।

अल्पायु अभिमन्यु अत्यन्त कोमल है। किन्तु वीरता ऐसी है कि युद्धभूमि में उसकी कुपित दृष्टि शनीचर की तरह शत्रुओं को कष्ट देनेवाली है। उसके बाण वज्र

---

1. पुत्त समागमे देवइहे थण पण्हुउ कहिं मि ण माइ।
   लहु अहिसित्तु पयोहरेहिं विहि मेहेहिं महिहरु णाइ ॥ *रि.च.* (यादव कांड 5-10)
2. महु कवणु सुहच्छइ कवण दिहि। जहिं तुम्ह विवइइ एह विहि ॥ *रि.च.* (कीचकवध)
3. देसे देसंतरु भमियाइ। वणि बारह वरिसइं गमियाइं ॥
   अहियइं मासिहि एआरहिहि। अवरहि वासर-पण्णारहिंहि ॥
   तो-वि दुक्ख-किलेसहो छेउ ण-वि। वरि मरणु न जीवेए सु-हलक-वि ॥ *रि.च.* (कीचकवध)
4. देइ दुवि-वि फलेइं पंचालि पुराइय-रुक्खु।
   जहिं णिय रावणिय किं सीयहिं थोडउ दुक्खु ॥ *रि.च.* (कीचकवध)

की तरह आघात करते हैं। दुःशासन को धराशायी करके शत्रु सैन्य को विदीर्ण करता हुआ अभिमन्यु आगे बढ़ता है। अन्त में द्रोण और कर्ण मिलकर क्षत्रिय धर्मत्याग कर अभिमन्यु पर आक्रमण करते हैं। आहत होकर अभिमन्यु गिर पड़ता है। टूटे हुए रथवाला वालक अभिमन्यु हथेली पर सिर रखे इस प्रकार शोभायमान है जैसे आकाश में अष्टमी का चन्द्रमा।[1] ऐसे पुत्र की मृत्यु पर माँ सुभद्रा का हृदयविदारक विलाप मर्म को छू लेनेवाला है—

पुत्त पुत्त किह वाणेहि भिण्णउ। पुत्त पुत्त किह खग्गहि छिण्णउ ॥
पुत्त पुत्त किहि वइरिहि दिट्ठउ। पुत्त पुत्त किह महियले सुत्तउ ॥
पुत्त पुत्त किहि डाहुपाइउ। पुत्त पुत्त णारायण आइउ ॥
पुत्त पुत्त जयकारहि माउल। पुत्त पुत्त हो छंडिय राउल ॥
पुत्त पुत्त तुहुँ केत्तह दीसहिं। पुत्त पुत्त उत्तर मंमीसहि ॥
पुत्त पुत्त जायव दल दुच्छिउ। पुत्त पुत्त तइं को विणपुंच्छिउ ॥
देवइ रोहिणि रूप्पणिहि दोमइं कोंतिहि णिच्च ण वल्लउ।
बंधव सयणइं हरि हरिवि कवणु दोसु जहि गउ एकल्लउ ॥[2]

'पुत्त पुत्त' की बार-बार आवृत्ति इस गहन पीड़ा में प्रत्येक पाठक को शामिल करती हुई लगती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयम्भू ने अपने दोनों ही महाकाव्यों के कथा प्रवाहवाले प्रत्येक मार्मिक प्रसंगों को पर्याप्त आत्मीयता प्रदान की है। बहुतेरे ऐसे प्रसंग हैं जिन पर अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया है—मसलन रावण की मृत्यु पर विभीषण का विलाप, उसे भी स्वयम्भू के कवि हृदय ने आत्मीयता प्रदान की है।

रस

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त रस में से किसी एक को प्रधान होना चाहिए। पर स्वयम्भू के दोनों काव्य-ग्रन्थों में इन तीनों को लगभग समान महत्त्व प्राप्त है।

कहा जा चुका है कि जैन कवियों ने रामकथा और कृष्णकथा का उपयोग जैनमत के प्रचार-प्रसार के लिए किया है। अस्तु जैनमत के अनुरूप संसार की असारता, क्षण-भंगुरता और दुख बहुलता कवि को वैराग्य भावना की ओर ले जाती है। दोनों ही महाकाव्यों के नायक अन्त में वैराग्य धारण करते हैं। इस वैराग्य भावना में शान्त रस का भलीभाँति परिपाक हुआ है। इसलिए इन महाकाव्यों का अंगी रस शान्त ही माना जाता है।

---

1. चक खंडु थिउ बालहो करयले। अट्ठमि चंद विन्दु णं णहयले ॥ *रि.च.* 55.26
2. *रि.च.* 58.7

पर रामकथा और कृष्णकथा की दृष्टि से देखें तो दोनों महाकाव्यों में वीररस की प्रधानता दिखाई देती है। आधिकारिक कथा में नायकों द्वारा प्रतिनायकों का वध किया जाना ही मुख्य वर्ण्य विषय है। यहाँ तक पहुँचने के लिए युद्धों का सतत सिलसिला चलता रहता है जिनमें वीररस की छवियाँ भरी पड़ी हैं। संकटाप्रसाद उपाध्याय के अनुसार, "विशुद्ध काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इन महाकाव्यों की समाप्ति प्रतिनायक (रावण और जरासन्ध) के वध के साथ हो जानी चाहिए, पर इससे कवि का धार्मिक उद्देश्य पूरा न होता।"[1] इसीलिए *पउमचरिउ* में कथा को राम के वैराग्य और *रिट्ठणेमिचरिउ* को तीर्थकर के चरित विस्तार, कृष्ण की मृत्यु और वासुदेव की परीक्षा दीक्षा तक ले जाकर उसे शान्तिमय और निर्वेदपूर्ण बनाया गया है। इसलिए युद्धों के अनगिनत सिलसिलों और शृंगार वर्णनों के बावजूद अन्त में शान्ति की धारा का प्रवाह ही बचता है।

यहाँ स्वयम्भू द्वारा प्रयुक्त प्रमुख रसों के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं।

रसराज शृंगार के दोनों पहलू स्वयम्भू के यहाँ दिखाई पड़ते हैं। कई बार संयोग और वियोग का वर्णन वैसे ही हुआ है जैसे दिन के बाद रात आये। पवनंजय और अंजना सुन्दरी का यह संयोग वर्णन उनके दारुण विरह के ठीक बाद आता है—

महुरक्खर विणयालाव लिन्तु। आणन्दु सोक्खु सोहग्गु दिन्तु ॥
पल्लङ्कें चडिउ करं लेवि देवि। विहसन्त-रमन्तइं थियइँ वे वि ॥
स इँ भुवहिं परोप्परु लिन्ताइं सरहसु आलिगंणु दिन्ताइ ॥
णीसन्धि-गुणेण ण णायाइँ दोण्णि वि एक्कं पिव जायाइं ॥[2]

मधुर अक्षर और विनयालाप करते हुए, आनन्द-सुख और सौभाग्य देते हुए, एक दूसरे का हाथ लेते-देते हुए वे पलँग पर चढ़े। दोनों हँसने और रमण करने लगे। अपनी बाँहों में एक-दूसरे को लेते हुए दोनों एक हो गये और उन्हें वियोग की बात ज्ञात नहीं रही। संयोग शृंगार का अत्यन्त सुन्दर निरूपण रावण-मन्दोदरी, लक्ष्मण वनमाला और वासुदेव गन्धर्व माला के प्रसंग में भी हुआ है।

सीताहरण के बाद राम की विरह दशा का वर्णन देखने योग्य है : राम वनदेवता से पूछते हैं, "मुझे क्षण-क्षण में क्यों दुखी कर रहे हो? बताओ यदि तुमने मेरी कान्ता देखी हो?" यह कह वे आगे बढ़े ही थे कि मतवाला हाथी मिल गया। राम उससे कहते हैं, "अरे मेरी कामिनी की तरह सुन्दर गतिवाले गज, क्या तुमने मेरी मृगनयनी को देखा है?" अपनी ही प्रतिध्वनि से प्रताड़ित होकर वह यही समझते थे कि मानो सीता देवी ने ही उन्हें पुकारा है। कहीं वह नील कमलों को अपनी पत्नी के विशाल नयन समझ बैठते, कहीं हिलते हुए अशोक वृक्ष को देख वे यह समझ बैठते

1. *महाकवि स्वयम्भू* : संकटाप्रसाद उपाध्याय, पृ. 198
2. *पउमचरिउ* 39-12

कि सीता देवी की बाँह हिल-डुल रही है। इस प्रकार समस्त धरती और वन की खोज करके राम वापस आ गये, और वह अपने सुन्दर लता गृह में पहुँचे अपना धनुष-बाण एक ओर रखकर धरती पर गिर पड़े।

तुलसीदास ने जिस प्रसंग को 'हे खग मृग, हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी' कहकर निपटा दिया है उसे स्वयम्भू के यहाँ अत्यन्त आत्मीय विस्तार मिला है। स्वयम्भू और तुलसीदास के यहाँ वर्णन की कुछ समानताओं को देखकर राहुल जी का यह मत ठीक जान पड़ता है कि तुलसीदास के 'क्वचिदन्यतोऽपि' में स्वयम्भू की रामकथा भी रही होगी। रावण की विरह दशा में शास्त्रोक्त दस दशाओं का वर्णन मिलता है। ऐसे प्रयोग प्रायः परम्पराभुक्त हैं।

वसुदेव के रूप को देखकर स्त्रियों का सुध-बुध खो देना और विपरीत आचरण अनुभावों के वर्णन का सर्वोत्तम उदाहरण है।[1]

जिस समाज में युद्ध की बहुलता होती है, उसमें शृंगार के आलम्बन प्रायः वीर योद्धा ही हुआ करते हैं। सभी पात्र विशिष्ट योद्धा हैं। युद्ध वर्णन में स्वयम्भू को बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। दोनों ग्रन्थों में आदि से अन्त तक युद्ध वर्णन मिलता है जिनमें वीररस का सम्यक् परिपाक हुआ है। छन्द की गति से कवि युद्ध की गतिमयता को मूर्त कर देता है। रोहिणी के लिए, होनेवाले युद्ध का यह दृश्य वीररस की समुचित व्यंजना करता है—

उत्थरंति - साहणाइं। चाउरंग - वाहणाइ ॥
सुट्ठुबद्ध-मच्छराइं। तोसिया मरच्छराइं ॥
एक्क मेक्क-कोक्किराइं। कोंति कोडि-चोक्किराइं ॥
बाण जाल - छाइयाइं। धूलिवाउ - धूसिराइं ॥
आउहोह जज्जराइं। दंतिदंत पेल्लियाइं ॥
सोणियंब रेल्लियाइं। घोरघाय भिभलाइं ॥
णित्त अंत चोभलाइं। तिक्ख खग्ग - खँडियाइं ॥
भल्लुयार - वाउलाइं। घोरगिद्ध - संकुलाइं ॥[2]

अर्थात् चतुरंग वाहनोंवाली सेनाएँ उछलती हैं, अत्यन्त मत्सर से भरी हुई, देवों और अप्सराओं को सन्तुष्ट करनेवाली, एक-दूसरे को ललकारती हुई, भालों के किनारे से चुकी हुई, तीरों के जाल से आच्छादित, धूल और हवा से धूसरित, आयुधों के समूह से जर्जर हाथियों के दाँतों से हटाई जाती हुई, रक्तजलों से प्रवाहित होती हुई, भयंकर आघातों से विह्वल होती हुई, जिनकी आँतें और चोटियाँ ले जायी जा रही हैं ऐसी पैनी तलवारों से खण्डित, भालुओं के शब्दों से व्याप्त भयंकर गीधों से संकुल हैं।

---

1. *रिट्ठणेमिचरिउ* 1-8
2. *रिट्ठणेमिचरिउ* 3-6

युद्ध वर्णन के क्रम में ही लोथों से पटे, रसमज्जा से पूर्ण युद्धभूमि और उसमें गीधों, शृंगालों की उपस्थिति से कवि ने वीभत्स रस का भी भान करा दिया है।

स्वयम्भू के यहाँ यथास्थान करुण रस का भी सम्यक् परिपाक दिखाई पड़ता है। रावण के लिए मन्दोदरी का विलाप ही नहीं, विभीषण का विलाप किसी भी सहृदय को करुणार्द्र करने में सक्षम है। *रिट्ठणेमिचरिउ* में नेमिनाथ के बारात से बिना विवाह किये लौट जाने और गिरनार पर्वत पर जिन दीक्षा लेने पर राजुल के हृदय की वेदना का करुण चित्र भी कवि ने मूर्त कर दिया है।

कहा जा चुका है कि जैन महाकाव्यों का पर्यवसान शान्त रस में होता है। प्रायः सभी पात्र जैन धर्म में दीक्षित होते हैं। ज्ञान बोध और दीक्षा प्राप्ति के अवसर पर प्रायः संसार की असारता, क्षणभंगुरता, अनित्यता, नश्वरता और दुःख बहुलता बताकर संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए कवि प्राणिमात्र को आत्म कल्याण के लिए प्रेरित करता है। ऐसे निर्वेदमूलक वृत्तान्त पूरी कथा में गुँथे हुए हैं। विरह की ज्वाला से दग्ध राम सोचते हैं—सत्य ही संसार में कहीं सुख नहीं है। मेरु पर्वत सदृश दुख समुदाय है। जन्म-मरण का भय सदा ही लगा रहता है। जीवन जलबिन्दु के समान है। कहाँ घर, कहाँ परिजन, कहाँ बन्धु-बान्धव, कहाँ माता-पिता, कहाँ हितैषी स्वजन, कहाँ पुत्र मित्र, कहाँ गृहिणी, कहाँ सहोदर, कहाँ बहिन? जब तक सम्पत्ति है तभी तक वन्धु स्वजन हैं। ये सब वृक्ष पर पक्षियों के वास के समान अस्थिर हैं—

> विरहाणल-जाल-पलित्त-तणु। चिंतेवएँ लग्गु विसण्ण मणु ॥
> सच्चउ संसारे ण अत्थि सुहु। सच्चउ जीविउ जल-बिंदु-सउ ॥
> कहों धरु कहो परियणु-बंधु-जणु। कहों माय-वप्पु कहों सुहि सयणु ॥
> कहों पुत्तु मित्तु कहों फिर धरिणि। कहों भाय सहोयर कहों बहिणि ॥
> फलु जाव ताव बंधव सयण। आवासिय पायविं जिह सउण ॥[1]

अलंकार

पउमचरिउ के आरम्भिक विनय-प्रदर्शन में स्वयम्भू ने अलंकार के बारे में लिखा है, "पिंगलशास्त्र के प्रस्तार को मैं नहीं जानता, न ही मैं दंडी और भामह के अलंकार को ही समझता हूँ।"[2] पर स्वयम्भू के दोनों काव्य उनके अलंकार कौशल की कथा कहते हैं। इसलिए उपरोक्त कथन का विनय प्रदर्शन के अलावा यदि कोई अर्थ लेना हो तो सिर्फ़ यही लिया जा सकता है कि स्वयम्भू ने अलंकारों का प्रयोग सहज और अकृत्रिम भाव से किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनायास प्रयुक्त अलंकार

1. *पउमचरिउ* 39 सन्धि 11, 1-6
2. णउ वुज्झिउ पिंगल-पत्थारु। णउ भम्मह-दण्डि अलंकारु ॥ *प.च.* 1 सन्धि 3-8

ही काव्य की शोभा बढ़ाते हैं। अलंकारों का सायास प्रयोग काव्य की शोभा बढ़ाने की वजाय उसे उवाऊ और नीरस बना देता है।

स्वयम्भू जैसे महाकाव्यकार के यहाँ प्रायः सभी अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु प्रत्येक महाकवि का अपना कोई एक प्रिय और सिद्ध अलंकार होता है। ऐसे अलंकार के प्रयोग में कवि इतना सहज होता है कि काव्य में अनुभूति पूरी तीक्ष्णता से व्यक्त होती है और काव्य सौन्दर्य खिल उठता है। वह विशिष्ट अलंकार कवि की पहचान बन जाता है। जैसे उपमा कालिदास का प्रिय और सिद्ध अलंकार है उसी तरह स्वयम्भू का प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है। क़दम-क़दम पर उत्प्रेक्षा की लड़ियाँ स्वयम्भू के यहाँ दिखाई पड़ती हैं। स्वयम्भू की उत्प्रेक्षाप्रियता और प्रयोग दक्षता को देखकर कुछ विद्वान इन्हें उत्प्रेक्षा-सम्राट कहना चाहते हैं। सच तो यह है कि स्वयम्भू की कृतियों में मुश्किल से ही कोई ऐसी सन्धि या कड़वक मिलेगा जिसमें उत्प्रेक्षा की छवि न हो। स्वयम्भू के उत्प्रेक्षा कौशल की चर्चा आगे की जाएगी।

कवि के सामर्थ्य का पता उसके द्वारा लाये अप्रस्तुत विधान से होता है। अप्रस्तुतों की ग्राह्यता और व्यंजकता पर ही कवि और काव्य की उत्कृष्टता का पता चलता है। स्वयम्भू अलंकार योजना में जैसे उपयुक्त अप्रस्तुत विधान लाये हैं, वह उनके जैसे महाकवि द्वारा ही सम्भव है।

स्वयम्भू ने शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का दक्षतापूर्वक प्रयोग किया है। शब्दालंकार के तीन भेद—अनुप्रास, यमक और श्लेष हैं। इन सबका स्वयम्भू के यहाँ अत्यन्त कुशल प्रयोग मिलता है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास प्रमुख है। इसका कुशल उपयोग नाद सौन्दर्य पैदा करके काव्यानुभूति को तीव्र कर देता है। कहा जा चुका है कि युद्ध वर्णन में कवि को अद्भुत दक्षता प्राप्त हुई है। स्वयम्भू ने अनुप्रास के उपयोग से युद्ध वर्णन को अत्यन्त सजीव बना दिया है। अनुप्रास के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

> तरु तरल-तमाल-तालेल-कक्कोल साला[1]

या

> भीम भमाणय भीम णियाया।[2]

इसी तरह यमक के सुन्दर प्रयोग का उदाहरण देखें। वैराग्य के प्रसंग में स्वयम्भू ने एक ही जगह नौ शब्दों की आवृत्ति करके यमक का अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है—

---

1. *पउमचरिउ* 51 सन्धि 2, 4
2. *प.च.* 59 सन्धि 8, 5

जीवाउ वाउ हय हय वराय। सन्दण सन्दण गय गय जेँणाय॥
तणु तणु जे॔ खणद्धे खयहो॔ जाइ। धणु धणु जि गुणेण वि वंकु थाइ॥
दुहिया वि दुहेय माया वि माय। सम-भाउ लेन्ति फिर तेण भाय॥[1]

जीव की आयु वायु है, हय (घोड़े) हत (आहत) हो जाते हैं। रथ खंडित हो जाते हैं। गज रोग को प्राप्त हो जाते हैं। तन तृण की तरह है जो आधे पल में नष्ट हो जाता है। धन धनुष की तरह है जो गुण से भी टेढ़ा हो जाता है। दुहिता भी दुष्ट हृदय होती है, माता भी माया है। सम-भाग बटाने के कारण ही भाई-भाई हैं।

विहीसण शब्द की आवृत्ति रावण और विभीषण दोनों की अर्थ व्यंजना करती है—

पुणु विगरुउ संताउ विहीसणे। काइं णिवारिउ ण किउ विहीसणे॥

यहाँ विहीसणे अर्थात् विगत भय रावण और दूसरे विहीसण का अर्थ विभीषण है। पूरा अर्थ हुआ—फिर भी हे घोर सन्तापकारी निर्भीक रावण! तुमने विभीषण के निवारण करने पर कुछ कान नहीं दिया।

पउमचरिउ की 57वीं सन्धि में यमक अलंकार की प्रचुरता देखकर लगता है मानो यमक का ख़ज़ाना हो।

अनुप्रास और यमक की तरह स्वयम्भू के यहाँ श्लेष के भी सुन्दर प्रयोग मिलते हैं—

सालंकारु सु-सरु सु-वियड्ढु सुहावउ पिय-कलतु वं।
आरोहि-अघ (व?) रोहि-थाइय-संचारिहि सुरय-तत्तुवं॥

यहाँ रावण द्वारा गाये गन्धर्व राग में 'सालंकारु', 'सुसरु', 'विवयडढु', 'सुहावउ', 'आरोहि', 'अवरोहि', 'थाइय' तथा 'संचारिहि' शब्दों में श्लेष के सहारे सुन्दर रूप और रति क्रिया दोनों का अर्थ ध्वनित होता है।

इसी तरह स्वयम्भू के यहाँ अर्थालंकार के प्रायः सभी भेदों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। कहा जा चुका है कि उत्प्रेक्षा स्वयम्भू का सर्वप्रिय अलंकार है। यह भी सच है कि उत्प्रेक्षा के मूल में उपमा होती है। उत्प्रेक्षा ही क्यों? प्रायः सभी अलंकारों के मूल में उपमाधर्मिता होती है। इसलिए काव्य कर्म के लिए उपमा में दक्ष होना आवश्यक है। स्वयम्भू को काव्य में उपमा की भूमिका का बोध भी है। वे *रिट्ठणेमिचरिउ* में एक जगह कहते हैं, "असमान उपमाओं से काव्य की रचना नहीं होती।" उपमा के महत्त्व से परिचित स्वयम्भू ने स्वयं अत्यन्त सटीक उपमाएँ प्रस्तुत की हैं। स्वयम्भू की प्रतिभा विविध प्रसंगों के लिए नये और हृदयग्राही उपमान लाती है। दुष्ट सास के लिए

1. *पउमचरिउ* 22 सन्धि 3, 6-8

स्वयम्भू का उपमान देखिए—

सुक्कइ-कहहो जिह खल-मइउ हिम बद्दलियउ कमलिणिहि जिह।
होन्ति सहावें बइरिणिउ णिय-सुण्हइं खल-सासुअउ तिह ॥

जैसे सुकवि की कथा के लिए दुर्जनों की बुद्धि या कमलिनी के लिए हिम मेघ है। वैसे ही बहुओं के लिए सासें दुश्मन होती हैं।

स्वयम्भू के यहाँ मालोपमा के भी अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। मालोपमा में एक ही वस्तु के लिए अनेक उपमान लाये जाते हैं। आकाश में मेघ जाल के फैलने का दृश्य उपस्थित करने के लिए उपमानों की झड़ी देखने योग्य है—

पसरइ-मेह-बिंदु गयणांगणे। पसरइ जेम सेणु समरंगणे ॥
पसरइ-जेम तिमिरु अण्णाण हो। पसरइ जेम बुद्धि वहु-जाण हो ॥
पसरइ-जेम पाउ पाविट्ठ हो। पसरइ जेम धम्म धम्मिट्ठ हो ॥

अर्थात् आकाश के आँगन में मेघ-समूह वैसे ही फैलता है जैसे समरांगण में सेना फैलती है। जिस प्रकार अज्ञानी में अन्धकार फैलता है, जिस प्रकार बहुज्ञानी में बुद्धि का प्रसार होता है, जिस प्रकार पापी में पाप का प्रसार और धर्मात्मा में धर्म का प्रसार होता है।

रूपक का प्रयोग भी स्वयम्भू ने अत्यन्त कुशलता के साथ किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

जो मइलिउ विहि परिणामेण अयस-कलंक-पंक मलेहि।
सो जस-पडु पक्खालेवउ दहमुह-सीस-सिलायलेंहि ॥

राम प्रतिज्ञा करते हैं : भाग्यवश जो मेरा यश-वस्त्र अकीर्ति के कलंक पंक से मैला हो गया है उसे रावण के सिर की चट्टान पर प्रक्षालित करूँगा।

स्वयम्भू के उत्प्रेक्षा प्रेम की चर्चा की गयी है। रावण मन्दोदरी को देखता है। उत्प्रेक्षा की लड़ियों से कवि मन्दोदरी के दिव्य सौन्दर्य को मूर्तिमान कर देता है—

दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल। णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल ॥
दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त। णं महुर-राव वन्दिण पढन्त ॥
दीसइ णियम्बु मेहल समग्गु। णं कामएण-अत्थाण-मग्गु ॥
दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति। णं कसल-वाल-सप्पिणि ललन्ति ॥
दीसन्ति सिहिल उपसोह देन्त। णं उरयलु भिन्देवि हत्थिदंत ॥
दीसइ सुणासु अणु हुअ-सुअंबु। णं णयण-जलहो किउ सेउ वन्धु ॥
दीसइ णिडालु सिर-चिहुर-छण्णु। ससि-बिम्बु व णव-जलहर-णिमण्णु ॥

रावण ने उस बाला मन्दोदरी को देखा मानो भ्रमर ने अभिनव कुसुममाला देखी हो। मन्दोदरी के पैरों में बजते हुए नूपुर ऐसे मालूम होते थे मानो बन्दीजन मधुर शब्दों

का पाठ कर रहे हों। मेखला सहित नितम्ब ऐसे लगते थे मानो कामदेव का प्रस्थान मार्ग हो। चढ़ती हुई रोम राशि ऐसी थी मानो काली बाल नागिन ही शोभित हो रही हो। स्तन इस तरह शोभायमान थे मानो हृदय में धँसे हुए हाथी के दाँत हों। सुगन्ध का अनुभव करनेवाली सुन्दर नाक ऐसी दिखाई देती थी मानो नेत्रजल के लिए सेतुबन्ध ही हो। सिर के बालों से ढँका हुआ ललाट ऐसा जान पड़ता था मानो चन्द्र बिम्ब ही नये मेघों में डूब गया हो।

हस्त प्रहस्त के मारे जाने पर रावण की दशा का वर्णन करते हुए भी कवि उत्प्रेक्षा की माला ही रच देता है—

णं विणिहय हत्थ-पहत्थ वे वि। थिउ रावणु मुहें कर-कमल देवि ॥
णं मत्त-महागउ गय-विसाणु। णं वासरे तेय-विहीणु भाणु ॥
णं णी-ससि सूरउ गयण-मग्गु। णं इन्द-पडिन्द-विमुक्कु सग्गु ॥
णं मुणीवरु इह-पर-लोय युक्कु। णं कुकइ-कव्वु लक्खण-विमुक्कु ॥

—अर्थात् जब हस्त और प्रहस्त मारे गये तो रावण माथे पर हाथ रखकर बैठ गया, मानो दन्तहीन कोई महागज बैठा हो या मानो दिन में तेजविहीन सूर्य हों, मानो सूर्य चन्द्र से आकाश विहीन हो, मानो इन्द्र-प्रतीन्द्र से स्वर्ग विहीन हो, मानो मुनिवर इहलोक तथा परलोक विहीन हों, मानो कुकवि का काव्य लक्षणहीन हो।

कालियानाग का दमन करने के लिए कृष्ण यमुना में प्रवेश करते समय यमुना को देखते हैं। यमुना की शोभा को कवि उत्प्रेक्षा की लड़ियों में पिरोने लगता है—

मुसु मुरिय-मायासंदणेण। लक्खिज्जइ जउणा जण छणेण ॥
अलिवलय-जलय-कुवलय-सवण्ण। रवि-भइएण णं णिसितलि णिसण्ण ॥
णं वसुह वरंगण-रोमराइ। णं दड्ढमयण कटिणि वि राइ ॥
इंदणीलमणि-भरियरवाणि। णं कालियाहि-अहिमाण-हाणि ॥

—अर्थात् मायावी रथ को चकनाचूर कर देनेवाले जनार्दन ने भ्रमरसमूह जलद और नीलकमल के समान रंगवाली यमुना नदी को इस प्रकार देखा मानो सूर्य के डर के कारण निशातल पर बैठी हुई हो, मानो वसुधा रूपी वारांगना की रोम राजि हो, मानो दग्ध कामदेव की करधनी शोभित हो, मानो इन्द्रनील मणियों से भरी हुई खान हो, मानो कालियानाग के अभिमान की हानि हो।

स्वयम्भू का कौशल यह है कि वे एक ही उपमेय के लिए उत्प्रेक्षा की लड़ियाँ रचते चले जाते हैं। एक उपमेय के लिए अनेक उपमाएँ प्रस्तुत करने पर मालोपमा अलंकार होता है। इसी तरह यदि मालोत्प्रेक्षा की कल्पना की जाए तो स्वयम्भू का साहित्य इससे भरा पड़ा है। कवि की कल्पना का शीर्ष वैभव यहाँ दिखाई पड़ता है।

स्वयम्भू के यहाँ अपह्नुति, व्यतिरेक, परिसंख्या, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अत्युक्ति

आदि अलंकारों के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं पर उत्प्रेक्षा की बहुलता के आगे अन्य अलंकार नगण्य-से लगते हैं। कई बार उत्प्रेक्षा की लड़ियों के भीतर अन्य अलंकार दिखाई पड़ते हैं। इससे भी प्रमाणित होता है कि कवि अलंकार का प्रयोग कौशल दिखाने के लिए नहीं काव्यानुभूति को व्यक्त करने के लिए ही करता है।

छन्द

स्वयम्भू को 'छन्द चूड़ामणि' भी कहा जाता है, केवल इसलिए नहीं कि वे 'स्वयम्भू छन्द' जैसी कृति के रचनाकार हैं बल्कि इसलिए भी कि छन्दों का अत्यन्त कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है। वे पारम्परिक छन्दों के प्रयोग में तो सिद्धहस्त थे ही, उन्होंने अनेक नए छन्दों का आविष्कार भी किया है।

स्वयम्भू को कतिपय नए छन्दों का आविष्कर्ता कहने का आधार यह है कि अपनी कृतियों में वे अनेक ऐसे छन्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं जिनका 'स्वयम्भूछन्द' में भी उल्लेख नहीं है। मसलन तोमर (प.च. सन्धि 59.2), मत्तमायंग (59.3; 60.4), रयडा (59.4), परियन्दिय (59.5), णाराउ (59.7), भुजंग प्रयात (59.10; 71.11), मागध प्रत्यधिक (60.1), हेलोदुवई (59.1; 59.2) मयणवयारो (60.5), दुवई (सन्धि 13, 40, 51, 75 पूर्ण तथा 70 का 1, 12), मत्ता (74.1), मदनावर (59.2, 9) आदि।[1]

अपभ्रंश भाषा ने केवल व्याकरण की दृष्टि से ही नहीं, अपितु छन्दों की दृष्टि से भी संस्कृत-प्राकृत से अलग रास्ते विकसित किये। मात्रिक छन्द पहली बार अपभ्रंश में ही सम्भव हुए। छन्दों के तुकान्त होने की परम्परा अपभ्रंश से ही शुरू हुई। श्लोक संस्कृत का, गाहा प्राकृत का और दोहा अपभ्रंश का लाडला छन्द है। मुक्तक काव्य के लिए दोहा और प्रबन्ध-काव्य के लिए चौपाई बहुप्रयुक्त छन्द है। अपभ्रंश से ही दोहा-चौपाई में चरित काव्य लिखने की परम्परा शुरू हुई। कड़वकबद्ध शैली में चरित काव्य लिखे जाते थे इसमें चार पद्धड़िया या आठ पंक्तियों के बाद घत्ता दिया जाता था। पद्धड़िया या पज्झटिका या अरिल्ल की जगह चौपाई आ गयी। स्वयम्भू ने यह तो कहा है कि पद्धड़िया छन्द उन्हें चतुर्भुज से प्राप्त हुआ लेकिन अभी तक चतुर्भुज का केवल उल्लेख मिलता है। पद्धड़िया बन्ध में सबसे पुरानी रचना स्वयम्भू की ही प्राप्त होती है। अस्तु दोहा-चौपाई शैली में चरित काव्य लिखने की पद्धति के आविष्कर्ता स्वयम्भू ही हैं।

डॉ. भायाणी ने स्वयम्भू के दोनों ग्रन्थों के छन्द विधान का विधिवत् अध्ययन

---

1. *स्वयम्भू छन्द—एक अध्ययन* : डॉ. कस्तूरचन्द सुमन, जैन विद्या स्वयम्भू विशेषांक, अप्रैल, 1984, पृ. 109

किया है। उनके अनुसार *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* के कड़वकों के यमक में अर्थात् प्रारम्भ और अन्त के बीचवाले मुख्य भाग में प्रयुक्त छन्दों में पद्धड़िया, वदनक और पारणक की प्रधानता है। कड़वक को प्रारम्भ करनेवाले छन्दां में मंजरी, हेला, द्विपदी, सालभंजिका, कामलेखा, मात्रामंजरी, दोहा आदि विशेप रूप से प्रयुक्त हुए हैं। घत्ता या कड़वक के अन्त के छन्दों में रत्नावली, केतकी कुसुम, कामिनी हास, कांचनमाला, अभिनव बसन्तश्री, त्रिवली तरंगक, प्रेम विलास, अनंगलतिका, मन्मथ तिलक आदि छन्दों की अधिकता है। इनके अतिरिक्त कड़वकों के आदि, अन्त और मध्य में अनेक अन्य छन्दों का भी प्रयोग स्वयम्भू ने स्थान-स्थान पर किया है। उनके यहाँ पद्धड़िया, पाराणक या वदनक आदि छन्दों का प्रयोग कथा वर्णन के लिए किया गया है वहीं युद्धवर्णन के लिए भुजंग प्रयात छन्द का प्रयोग किया गया है।

ध्यान देने की बात यह है कि स्वयम्भू ने विविध छन्दों का प्रयोग पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं किया है। उनके यहाँ वर्ण्य-विषय की विविधता को व्यक्त करने के लिए छन्दों का परिवर्तन किया गया है। ऐसा करने से कथा-प्रवाह में एकरसता नहीं आने पाती। स्वयम्भू के छन्द प्रयोग का यह एक और वैशिष्ट्य है।

भाषा

स्वयम्भू ने अपनी भाषा के वारे में स्वयं लिखा है—

> सामाण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम-जुत्ति का वि घडउ ॥
> छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइं। गामिल्ल-भास-परिहरणाइँ ॥[1]

अर्थात् सामान्य भाषा और 'गामेल्ल भास' को छोड़कर आगम युक्ति रचने में उन्हें कोई उत्साह नहीं है। वे स्वयं अपनी भाषा को सामान्य और देशी बताते हैं। उचित भी है कि साधारण जन के प्रति लगाव रखनेवाले कवि की भाषा इन विशेषताओं से युक्त हो।

कवि का बार-बार अपनी भाषा को देशी कहना, पांडित्य परम्परा के प्रति व्यंग्य भाव का परिचायक भी है। अपनी रामकथा की विशेपता बताते हुए स्वयम्भू कहते हैं, "देसी भासा-उभय-तडुज्जल अर्थात् इसके दोनों तट देशी भापा से उज्ज्वल हैं।"[2] संस्कृत और प्राकृत जैसी विशिष्ट भाषाओं को छोड़कर प्राकृत के गर्भ से हाल-हाल में उद्भूत लोक प्रचलित अपभ्रंश के प्रयोग को लेकर कवि की आश्वस्ति देखने लायक़ है। यद्यपि साहित्य की भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रथम प्रयोग स्वयम्भू

---

1. *पउमचरिउ* 1 सन्धि 3, 10-11
2. *पउमचरिउ* 1 सन्धि 2, 4

ने नहीं किया होगा, पर यह भी सही है कि जिस समय स्वयम्भू ने अपभ्रंश में काव्य रचना शुरू की होगी उस समय तक इसे पूर्णतः साहित्यिक भाषा का दर्जा नहीं मिला होगा, इसलिए भी स्वयम्भू बार-बार अपनी भाषा को देशी और सामान्य कह रहे थे। यद्यपि स्वयम्भू जैसे प्रतिभाशाली कवि का आश्रय पाकर आरम्भ में ही अपभ्रंश ने जो उत्कर्ष प्राप्त किया वह चकित करनेवाला है। अपभ्रंश साहित्य के अध्येता प्रो. रामसिंह तोमर कहते हैं, "स्वयम्भू की भाषा तथा प्रौढ़ता को देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके बहुत पहले इस धारा का प्रारम्भ हुआ होगा और अपनी कृतियों में उन्होंने इस प्रकार के उल्लेख भी किए हैं।"[1] यों तो स्वयम्भू ने अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवि चतुर्मुख का बड़े सम्मान के साथ नाम लिया है। लेकिन अभी तक चतुर्मुख की कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। अतः उनकी कृतियों और भाषा के बारे में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसलिए बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि अपभ्रंश भाषा को साहित्यिक उत्कर्ष स्वयम्भू की प्रतिभा ने ही प्रदान किया।

स्वयम्भू को एक अनगढ़ और विकसनशील भाषा प्राप्त हुई थी, जिसका कोई बना-बनाया रूप या व्याकरण नहीं रहा होगा। इसलिए कुछ विद्वानों का यह अनुमान ठीक लगता है कि बाद के वैयाकरणों ने अपभ्रंश-व्याकरण के नियम स्वयम्भू की भाषा को आधार मानकर निरूपित किए होंगे।

स्वयम्भू जैसे कवि को, जिसने एक अनगढ़ और विकसनशील भाषा में काव्य ही नहीं, महाकाव्य लिखने की चुनौती स्वीकार की हो, उसे कुछ सुविधाओं और कुछ असुविधाओं, दोनों का सामना करना पड़ता है। असुविधा यह कि उसे हर क्षेत्र में नये रास्ते की खोज करनी पड़ती है और सुविधा यह कि उसके पास प्रयोग करने के लिए खुला आकाश मिलता है। स्वयम्भू ने इन दोनों का भरपूर सदुपयोग किया है। यही कारण है कि स्वयम्भूदेव के संस्पर्श से अपभ्रंश भाषा किसी भी भाषा के सम्मुख गर्व से खड़ी हो सकती है।

भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी विषयानुकूल अभिव्यक्ति क्षमता है। स्वयम्भू का कौशल यह है कि वे बहुधा अभिधा शक्ति के द्वारा ही विषय और भावों की सटीक अभिव्यक्ति कर लेते हैं। इसीलिए सीता आदि के रूप वर्णन में कवि जहाँ सुकोमल पदावली का प्रयोग करता है वहीं युद्ध वर्णन में कठोर वर्णों का प्रयोग करता है। यही नहीं प्रसंग के अनुरूप भाषा का प्रवाह भी बदलता रहता है। जहाँ युद्ध वर्णन के समय स्वयम्भू की भाषा प्रचंड वेगवती नदी की तरह होती है तो उपदेश कथन में उसकी गति मन्थर हो जाती है। स्वयम्भू की भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद तीनों गुण

1. *प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य* : रामसिंह तोमर, पृ. 96

मौजूद हैं। उन्होंने लोक प्रचलित अभिव्यक्ति भंगिमाओं के प्रयोग से भाषा की सामर्थ्य को और समृद्ध किया है।

स्वयम्भू की भाषा के बारे में प्रो. नामवर सिंह का यह कथन बिलकुल सही लगता है, "अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर नहीं दिखाई पड़ा। अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी लेकिन ऐसी प्रवाहमयी और लोक प्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गयी।"[1]

---

1. *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग* : नामवर सिंह, पृ. 194

6

काव्यादर्श

पउमचरिउ का आरम्भ स्वयम्भू ने बड़ी उदात्त भूमिका से किया है। भूमिका में ही कवि ने अपने काव्यादर्श प्रकट किये हैं। बुधजनों को अपना परिचय देते हुए कवि कहता है, "यह स्वयम्भू कवि आप लोगों से निवेदन करता है कि मेरे समान कुकवि दूसरा नहीं है। कभी भी मैंने व्याकरण को न जाना, न ही वृत्तियों और सूत्रों की व्याख्या की। प्रत्याहारों में भी मैंने सन्तोष प्राप्त नहीं किया। सन्धियों के ऊपर मेरी बुद्धि स्थिर नहीं, मैंने सात विभक्तियाँ भी नहीं सुनीं, और न छह प्रकार की समास-प्रवृत्तियाँ ही। छह कारक और दस लकार नहीं सुने। बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्यय भी नहीं सुने। बलाबल धातु और निपात गण, लिंग उणादि वाक्य और वचन भी नहीं सुने। पाँच महाकाव्य नहीं सुने, और न भरत का सब लक्षणों से युक्त गेय सुना। पिंगल शास्त्र के प्रस्तार को नहीं समझा। और न दंडी और भामह के अलंकार भी।"[1]

अपनी काव्य रचना सम्बन्धी अयोग्यता(?) और काव्य शास्त्रीय अज्ञान (?) का बयान करने के तुरन्त बाद कवि अपना संकल्प इस प्रकार प्रकट करता है, (सारी अयोग्यता के बावजूद) "मैं काव्य रचना का व्यवसाय छोड़ने में असमर्थ हूँ।"[2] एक ओर काव्य रचना सम्बन्धी अयोग्यता का विस्तृत बखान और दूसरी तरफ रचना करने का दृढ़ संकल्प। दरअसल कवि की इन दोनों मुद्राओं में कोई विरोध नहीं है। अयोग्यता निरूपण में विनय प्रदर्शन की परम्परा का निर्वाह तो है ही, और

1. वुहयण सयम्भु पइँ विण्णवइ। मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ ॥
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ ॥
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय। णउ सधिहे उप्परि बुद्धि थिय ॥
णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ। छब्विहउ समास-पउत्तियउ ॥
छक्कारय दस लयारण सुय। वीसोवसग्ग पच्चय वहुय ॥
ण वलावल धाउ णिवाय-गणु। णउ लिंडगु उणाइ वक्कु वयणु ॥
ण णिसुणिउ पंच-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु वि सव्वु ॥
णउ बुज्झिउ पिंगल-पत्थारु। णउ भम्मह-दण्डि-अलडकारु ॥ *पउमचरिउ* 1 सन्धि 3, 1-8
2. ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। उपरिवत

भी कई अभिप्राय हैं। कवि स्पष्ट कहता है–यह विनय केवल 'बुधजनों' के लिए है दुर्जनों के लिए नहीं। इस पर भी यदि कोई दुर्जन काव्य की निन्दा करता है तो कवि उस खल को 'हत्थुत्थल्लिउ' लेने के लिए प्रस्तुत है। उसे अच्छी तरह मालूम है, "उस दुष्ट की अभ्यर्थना करने से कोई लाभ नहीं है जिसे कुछ अच्छा ही नहीं लगता।"

दरअसल कवि के रचनात्मक उद्देश्यों के लिए यह सारा पांडित्य अनावश्यक है क्योंकि वह जिन सामान्य लोगों के लिए काव्य रचना कर रहा है उनके लिए काव्य शास्त्रीय पांडित्य नहीं, काव्यरस की आत्मीयता चाहिए। वह कहता है–

सामाण भास छुडु मा विहडउ
छुडु आगम–जुत्ति किंपि घडउ ॥
छुडु होंति सुहासिय–वयणाइं
गामेल्ल–भास परिहरणाइं ॥[1]

सामान्य भाषा छोड़कर आगम युक्ति गढ़ने में कवि का उत्साह नहीं है। गामेल्ल भास में ही उसकी रचना सुभाषित हो सकती है। कोरे पांडित्य से आगम युक्ति गढ़ी जा सकती है। पर रचना की सार्थकता तो साधारण लोगों तक पहुँचने में ही है। और इसके लिए साधारण लोगों की भाषा ही उपयुक्त माध्यम हो सकती है। साधारण लोगों के प्रति कवि की यह प्रतिवद्धता ही उसकी रचनात्मक ऊर्जा का मूल स्रोत है। अपनी इस प्रतिबद्धता के लिए कवि व्याकरण, अलंकार शास्त्र और पिंगल शास्त्र न्यौछावर करने को तैयार है। उद्देश्य की विराटता और महानता ही कवि को अद्‌भुत आत्मविश्वास प्रदान करती है। स्वयम्भू कहते हैं कि उन्होंने आत्मसुख के लिए *रामायण* काव्य की रचना की। कवि के आत्मसुख की व्यापकता लोक सुख तक है। लोक सुख और आत्म सुख की अद्वैतता ही स्वयम्भू के काव्य की विशिष्टता है।

साधारण जन के लिए अलंकार, व्याकरण पिंगल प्रस्तार सब कुछ छोड़ने के कवि के प्रस्ताव का महत्त्व तब और बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि उनके यहाँ न तो काव्य शास्त्र और व्याकरण का अज्ञान है और न ही वे इनकी अवहेलना करते हैं। सारा काव्य शास्त्र कवि के लिए हस्तामलक समान है। क़दम-क़दम पर 'काव्य गठन' 'सुकवि की कथा' 'सुकवि के पद' जैसे उपमानों का प्रयोग इसका प्रमाण हैं। स्वयम्भू का पूरा साहित्य ऐसे प्रयोगों से भरा पड़ा है।

अपने-अपने स्थानों पर मंच बने हुए थे जो महाकवि के काव्य-वचन की तरह

1. *पउमचरिउ, सन्धि* 1-3

सुंगठित थे।[1] या सेनायें भी आपस में उसी प्रकार भिड़ गयीं, मानो सुकवि के काव्य वचन आपस में मिल गये हों।[2] विमानों के गठन को कवि 'महाकवियों के काव्य के समान सुगठित'[3] कहता है। यही नहीं स्वयम्भू के यहाँ मेघजाल सुकवि के काव्य की तरह आकाश में फैलने लगता है।[4] अनन्तवीर्य के दरबार में नर्तक के छद्मवेश में राम का नृत्य 'काव्य की तरह छन्द और शब्द से गम्भीर था।'[5] युद्ध के लिए निकलते हुए रथ, घोड़े, हाथी और नरेन्द्र समूह ऐसे मालूम होते हैं मानो सुकवि के मुख से शब्द निकल रहे हों। स्वयम्भू के यहाँ ऐसे अनेक उपमान हैं जहाँ वे प्रिय या सुन्दर के लिए उपमा चुनते हुए काव्यगठन, शब्द-सौष्ठव आदि का उदाहरण अवश्य देते हैं। सीता के सौन्दर्य को व्यक्त करने के लिए स्वयम्भू ने सुकवि की कथा का जो रूपक खड़ा किया है वह अद्भुत है। रावण ने सीता को पहली बार देखा तो वे सबसे पहले—सुकवि की कथा की तरह सुन्दर सन्धियों से जुड़ी हुई लगीं, सुन्दर पद (चरण और पद); सुवचन (सुन्दर बोली और वचन); सुशब्द (सुन्दर शब्दों वाली) और सुबद्ध (अच्छी तरह निबद्ध) थीं।[6]

इसी प्रकार कवि को कैकेयी व्याकरण की कथा मालूम पड़ती है। जो सुपद (सु आदि से युक्त सुबन्त पद—अच्छे पैर), सुसन्धि (सन्धि पदों से सहित—अच्छी तरह गठी हुई); वचन विभक्ति (एक दो आदि वचनों और प्रथमा द्वितीया आदि विभक्तियों से विभूषित—मुख के विभाजन से विभूषित) से विभूषित थीं।[7] कैकेयी को व्याकरण की तरह याद करने का व्यंग्य अपनी जगह है—पर काव्य लक्षणों को इस तरह याद करने से कवि की दक्षता का अन्दाज़ होता है। युद्ध वर्णन में स्वयम्भू की प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट हुई है। राम-रावण की सेनायें आपस में भिड़ती हैं। कवि यहाँ भी उत्प्रेक्षा के लिए व्याकरणिक प्रसंगों का चयन करता है—अपने-अपने वाहनों के साथ वे सेनायें ऐसे भिड़ गयीं, मानो व्याकरण के साध्यमान पद ही आपस में भिड़ गये हों। जैसे व्याकरण के साध्यमान पदों में क ख ग आदि व्यंजनों का संग्रह होता है, उसी प्रकार सेनाओं के पास लाँगूल आदि अस्त्र थे। जैसे व्याकरण में क्रिया और पदच्छेद आदि होते हैं, उसी प्रकार सेनाओं में युद्ध हो रहा था। जैसे व्याकरण में सन्धि और

---

1. णिय-णिय-थाणेहि णिबद्ध मंच। महकवि-कव्वालाव व सु सच्च ॥ *पउमचरिउ* 7 सन्धि 2-1
2. साहणइ मि अवरोप्परु भिडन्ति। णं सुकइ-कव्व-वयणइँ घडन्ति ॥ *प.च.* 7 सन्धि 5-3
3. महकइ-कव्वेहिं व सुघडिएहिं। *प.च.* 69 सन्धि 2-4
4. पसरइ सु-कइहें कव्वु जिह मेह जालु गयणङ्गणें तावेहिं। *प.च.* 28 सन्धि घत्ता-1
5. कव्वं पिव छन्द-सद्द-गहिरु। *प.च.* 30 सन्धि 6-4
6. सुकइ-कहव्व सु सन्धिय। सु-पय सुवयण सु-सद्द सु-वद्धिय। *प.च.* 38 सन्धि 3-2
7. सु-पय सु-सन्धि सु-णाम वयण विहत्ति-विहूसिय।
   कह वायरणहो जेम केक्कय एन्ति पदीसिय ॥ *प.च.* 24 सन्धि 9 घत्ता

स्वर होते हैं उसी प्रकार सेना में स्वर सन्धान हो रहा था, जैसे व्याकरण में प्रत्यय विधान होता है, उसी प्रकार उन सेनाओं में युद्धानुष्ठान हो रहा था। जैसे व्याकरण में प्र, परा, आदि उपसर्ग होते हैं, उसी प्रकार सेनाओं में घोर बाधाएँ आ रही थीं। जैसे व्याकरण में जश् आदि प्रत्यय होते हैं उसी प्रकार दोनों सेनाओं में यश की चाह थी। जिस प्रकार व्याकरण में पद-पद पर लोप होता है, उसी प्रकार सेनाओं में शत्रुलोप की होड़ मची हुई थी। जैसे व्याकरण में एक, दो और बहुवचन होता है वैसे ही उन सेनाओं में बहुत-सी ध्वनियाँ हो रही थीं। जिस प्रकार व्याकरण अर्थ से उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार सेनायें शस्त्रों से उज्ज्वल थीं, और एक-दूसरे के बल अबल को जानती थीं। जिस प्रकार व्याकरण में 'न्यास' की व्यवस्था होती है, उसी प्रकार सेना में भी थी। जिस प्रकार व्याकरण में बहुत-सी भाषाओं का अस्तित्व है, उसी प्रकार सेनाओं में तरह-तरह की भाषाएँ बोली जा रही थीं। जैसे व्याकरण में शब्दों का नाश होता है वैसे ही सेनाओं में विनाश लीला मची हुई थी। उन सेनाओं का लगभग व्याकरण के समान आचरण था। दोनों के चरित में निपात था, व्याकरण में आदि निपात है, सेना में योद्धा अन्त में धराशायी हो रहे थे।[1] सादृश्य विधान की इस शृंखला में व्याकरण के सभी अंग-उपांगों की सम्भावना युद्ध में की गयी है। यदि सांग उत्प्रेक्षा होती हो तो इसे इसका उदाहरण माना जा सकता है। बहरहाल स्वयम्भू के समूचे काव्य में ऐसे अगणित प्रसंग हैं जहाँ काव्यशास्त्र और व्याकरण ज्ञान का प्रमाण मिलता है। कवि के काव्य शास्त्रीय ज्ञान के स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में उनका 'स्वयम्भूछन्द' मौजूद है। इसी तरह 'स्वयम्भू व्याकरण' के प्रणेता के रूप में उनकी ख्याति उनके व्याकरणवेत्ता होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपनी रचनाओं में कवि व्यास से लेकर बाण तक को याद करता है, भामह और दंडी का स्मरण करता है, यह सब कवि के पांडित्य और काव्य परम्परा से प्रगाढ़ परिचय का ही प्रमाण है।

स्वयम्भू की विलक्षणता और विशिष्टता यह है कि काव्यभूमि में प्रवेश करते समय वे इस समूचे पांडित्य को दूर से प्रणाम कर देते हैं। इसके पीछे यह समझ है

1. अब्भिट्टइँ वे वि स-वाहणाइँ। वायरण-पयाइँ व साहणाइँ ॥
णिहताइँ तेम्व हल—संङ्गहाइँ। जिह ताइँ तेम किय-विग्गहाइँ॥
जिह ताइँ तेम सन्धिय-सराइँ। जिह ताइँ तेम पच्चय-कराइँ ॥
जिह ताइँ तेम उवसग्गिराइँ। जिह ताइँ तेम्व जस मग्गिराइँ ॥
जिह ताइँ तेम परलोप्पिराइँ। बहु-एक्क-दु-वयण-पजम्पिराइँ ॥
जिह ताइँ तेम्ब अत्थुज्जलाइँ। परियाणिय-सयल-वलावलाइँ ॥
जिह ताइँ तेम्ब णासायराइँ। जिह ताइँ तेम वहु-भासिराइँ ॥
अण्णण्ण-सद्द-विण्णासिराइँ। जिह ताइँ तेम आयरियइँ वाइ-णिवायहुँ चिरयइँ ॥
दीहर-समास-अहियरणइँ बलइँ णाइँ वायरणइँ ॥ प.च. 64 सन्धि 1,1-9

कि पांडित्य का अहंकार काव्य मर्म को समझने में बाधक होता है। स्वयम्भू का तीखा व्यंग्य देखा जा सकता है—जग में जिन्होंने शब्दार्थ और शास्त्रों को मर्दित कर रखा है, ऐसे सज्जन और पंडित लोगों को भला कैसे प्रसन्न किया जा सकता है? जो व्यास द्वारा भी रंजित नहीं हुए वे भला हम जैसे चिल्लाने वाले व्याकरण से हीन लोगों द्वारा कैसे प्रसन्न होंगे।[1] स्वयम्भू आश्वस्त थे कि केवल 'इल्म' से न तो शायरी आती है और न ही उसकी समझ। काव्य मर्म तक पहुँचने के लिए 'सहृदय' होना अनिवार्य है। स्वयम्भू का यह कथन लोकोन्मुखी चेतना के एक और अपभ्रंश कवि अब्दुलरहमान की याद दिला देता है जो कहते हैं—मेरा *सन्देश रासक* अत्यन्त विद्वानों को समझ में नहीं आएगा, न ही मूर्खों के। जो न तो विद्वान हैं न मूर्ख ऐसे सामान्य जन ही इस काव्य का मर्म समझ सकते हैं।[2] सामान्य जन को केन्द्र में रखकर चलनेवाली अपभ्रंश काव्य परम्परा में ही यह विश्वास था कि विद्वत्ता का अहंकार मूर्खता से होड़ लेनेवाला होता है। इसलिए कवि का पांडित्य उसे अहंकारी नहीं विनम्र बनाता है। ज़ाहिर है यह विनम्रता 'सुपात्रों' के लिए ही सुरक्षित है।

रिट्ठणेमिचरिउ में हरिवंश की कथा का आरम्भ करते हुए कवि की विनम्रता का एक और आयाम दिखाई पड़ता है। यहाँ स्वयम्भू अपनी काव्य शक्ति के सन्दर्भ में पूर्व परम्परा के दाय को स्वीकार करते हुए कहते हैं—कवि स्वयम्भू विचार करता है कि क्या करूँ? हरिवंश रूपी महासमुद्र को किस प्रकार पार करूँ?

मैंने गुरु वचन रूपी नाव प्राप्त नहीं की और न जन्म से किसी कवि के काव्य को देखा। मैंने बहत्तर कलाओं को नहीं जाना। एक भी ग्रन्थ खोलकर नहीं देखा। उस अवसर पर सरस्वती धीरज बँधाती हैं—तुम काव्य की रचना करो। मैंने तुम्हें विमल मति दी। तब इन्द्र ने व्याकरण दिया, भरत ने रस और व्यास ने विस्तार करना दिया। पिंगलाचार्य ने छन्द और पदों पर का प्रस्तार दिया, भामह और दंडी ने अलंकार शास्त्र दिया, बाण ने अपना अक्षराडम्बर, श्री हर्ष ने निपुणत्व दिया। दूसरे कवियों ने अपना कवित्त्व दिया। छड्डणी, दुवई और ध्रुविकाओं से जड़ित पद्धड़िया चतुर्मुख ने प्रदान किया। सबके आशीष से मैंने तब लोगों के नेत्रों को आनन्द देनेवाली यह हरिवंश कथा प्रारम्भ की जो स्वमत और परमत के विचारों को सहन करनेवाली है।[3]

---

1. जगे लोयहुँ सुयणहुँ पंडियहुँ। सइत्थ-सत्थ परिचड्डियहुँ ॥
   किं चित्तई गेण्हेंवि सक्कियइँ। वासेण वि जाइँ ण रञ्जियइँ ॥
   तो कवणु गहणु अम्हारिसेंहि। वायरण—विहूणें हिं आरिसेंहि ॥ *प.च.* 23 सन्धि 1,2-4
2. णहु रहइ बुहद कुकुवित्त रेसु, अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु ॥
   जिण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार, तिह पुरउ पढिव्बउ सव्ववार ॥ *सन्देशरासक*, प्रथम प्रक्रम, 21
3. चिंतवइ सयंभु काइं करमि। हरिवंस-महण्णउ केम तरमि ॥
   गुरु वयण-तरँडउ लद्धुणवि। जम्महो वि ण जोइउ कोवि कवि ॥

परम्परा के उदात्त तत्त्व का वोध और उसके ग्रहण का विवेक कालजयी कवि का अनिवार्य गुण है। सारी परम्परा, स्वमत और परमत से स्वयम्भू ने जो ग्रहण किया उसका मूल है—मनुष्य की श्रेष्ठता में विश्वास। स्वयम्भू का पूरा साहित्य मनुष्य की श्रेष्ठता का आख्यान है। इस प्रसंग में विद्याधर चन्द्रगति और राजा जनक का संवाद देखा जा सकता है, "जिसका अभिमान बढ़ रहा है ऐसे चन्द्रगति राजा ने राजा जनक से कहा—कहाँ विद्याधर और कहाँ मनुष्य? गज और मशक में बहुत अन्तर होता है? इस पर राजा जनक उत्तर देते हैं—विश्व में कहीं भी ऐसा क्षेत्र नहीं है, जो मनुष्य के क्षेत्र से श्रेष्ठ हो, कि जिसके पास तीर्थंकरों ने सिद्धत्व और केवल ज्ञान प्राप्त किया है?"[1] चन्द्रगति की तरह रावण भी मनुष्य को हीन समझता है और उसकी सत्ता को चुनौती देता है—जो देवताओं और दानवों की भी सेना से नहीं डिगा, उसे मनुष्य कैसे पकड़ सकते हैं।[2] यही नहीं राम की सेना की पराजय पर रावण पक्ष की महिलाएँ कहती हैं—मनुष्य कितना ही अजेय हो, क्या वह विद्याधरों को पा सकता है। झील कितनी भी बड़ी क्यों न हो, क्या समुद्र की समानता कर सकती है।[3] पर सर्वत्र अन्तिम विजय मनुष्य की होती है। ध्यान से देखें तो स्वयम्भू के यहाँ राम-रावण युद्ध मनुष्य और मनुष्य विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व लगता है जिसमें विजय मनुष्य की ही होती है। रावण जैसा प्रतापी मनुष्य की सत्ता का उपहास करता है और मनुष्य के ही हाथों मारा जाता है। रावण पर विजय प्राप्त करनेवाले स्वयम्भू के राम अवतार नहीं,

---

णउ णायउ वाहत्तरि कलउ। एक्कु वि ण गंथु परिमोक्कलउ ॥
तहिं अवसरि सरसइ धीरवइ। करि कव्वु दिण्णमइं विमल मइ ॥
इंदेण समप्पियउ वायरणु। रसु भरहेण वासें वित्थरणु ॥
पिंगलेण छन्द-पय-पत्थारु। भंमहे दंडिणिहिं अलंकारु ॥
वाणेण समप्पियउ घण घणउ। तं अक्खरडंबरु अप्पणउ ॥
सिरिहरिसे णियउ णिउत्तणउ। अवरेहिं मिकइहिं कइत्तणउ ॥
छड्डणि-दुवई-धुवइहिं जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय ॥
जणणयणाणंद जणेरिए। आसीसिए सव्वहुँ केरिए ॥
पारेमिय पुणु हरिवंसकह। ससमय - परसमय - विचार - सह ॥

रिट्ठणेमिचरिउ, यादवकांड, 1 सन्धि 1

1. तहिं अवसरे बड्ढिय-अहिमाणें। वुत्तु ण रिन्दु चन्द पत्थाणें ॥
कहि विज्जाहरु कहिं भूगोयरु। गय मसयहुं बड्डारउ अन्तरु ॥
माणुस खेत्तु जे ताम कणिट्ठउ। जीविउ तहिं कहिं तणउ विसिट्ठउ ॥
भणइ णराहिउ केत्तिएण जगे माणुस-खेत्तु जें अग्गलउ।
जसु पासिउ तित्थङ्कारेहिं सिद्धत्तणु लद्धउ केवलउ। *प.च.* 21 सन्धि, 11, 6-9
2. जो ण खलिउ देवेहिं दाणवेंहि। तहाँ कवणु गहणु फिर माणवेहिं ॥ *प.च* 58 सन्धि, 11,3
3. सुट्ठु वि भूगोयरु दुज्जउ किं पुज्जइ विज्जाहरहों।
सुट्ठ वि वालाहउ वड्डउ किं सरिसउ रयणायरहों ॥ *प.च.* 61 सन्धि 5 घत्ता

अपितु, साधारण मनुष्य हैं। वे अपनी सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और मानवीय शक्ति के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। एक ओर यदि वे दैवी विपत्तियों के विरुद्ध पौरुष के प्रतिमान हैं तो दूसरी ओर शक्तिहत लक्ष्मण के मुमूर्षु शरीर पर असहाय साधारण आदमी की तरह बिलखने वाले करुणा-विगलित नवनीत हैं। यदि वे कर्मफल की सीमा में निरन्तर कार्य करते रहनेवाले कर्मवीर हैं, तो कर्म-शृंखला के बन्धन में कराहते हुए जीवन-सन्ध्या बितानेवाले निर्वाणोन्मुख पथिक भी हैं, जो नारी के वियोग में सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँसुओं से गीला कर देता है और समुन्दर पार करके रावण जैसे दुर्दमनीय राजा से संघर्ष करता है, यही पुरुष उस नारी के शरण में आने पर उसके सतीत्व का उपहास करता है और निष्करुण भाव से उसे अग्नि को सौंप देता है।[1] इसीलिए स्वयम्भू का काव्य जैन धर्म के प्रचार के लिए लिखा होने के बाद भी मनुष्य का आख्यान है। जीवन संघर्ष में उलझे हुए मनुष्य को मुक्ति के लिए बार-बार जिन-शरण में जाते हुए दिखाने का कर्तव्य पूरा करते हुए भी कवि की प्रथम प्रतिश्रुति मनुष्य, साधारण मनुष्य का जीवन संघर्ष ही है।

विराग प्रधान होने के कारण जैन धर्म में स्त्री रति की निन्दा प्रायः मिलती है। स्वयम्भू के यहाँ भी यह कम नहीं है। पुरुष को स्त्री से विरक्त करने के लिए जगह-जगह स्त्रियों को बुरा-भला कहा गया है। पर स्त्री के रूप सौन्दर्य की विविध उद्भावनाएँ करनेवाले स्वयम्भू का कवि हृदय धर्म से (जिन धर्म से) पीन स्तनी स्त्रियों की प्राप्ति सम्भव है कहकर स्त्री के बारे में एक भिन्न और मानवीय दृष्टिकोण का संकेत देते हैं। स्त्री सम्बन्धी विशेष दृष्टिकोण के नाते स्वयम्भू स्त्री पात्रों को पर्याप्त सहानुभूति देते हैं। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के साथ दुर्व्यवहार की कहानी नयी नहीं है। ऐसे हर मौके पर स्वयम्भू स्त्री के साथ खड़े दिखाई देते हैं। स्त्री के प्रति दुर्व्यवहार करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को स्वयम्भू के आक्रोश का निशाना बनना पड़ा है। भले ही वे कथा नायक राम ही क्यों न हों?

सीता की अग्नि परीक्षा निश्चय ही रामचरित का श्यामल पक्ष है। बाद के रामचरितकारों ने इस पर लीपा-पोती की है और सीता को ऐसा माटी का माधो बनाया है कि वे पूरी तरह अविश्वसनीय लगती हैं। इसके बरक्स स्वयम्भू राम को पूरी तरह कठघरे में खड़ा करते हैं और सीता को ऐसा तेजस्वी रूप देते हैं जो अन्यत्र दुर्लभ है। निर्वासन और अग्नि परीक्षा के अपमान से आहत सीता की ग्लानि और अनुभव को कोई चाहे तो स्त्री-विमर्श के पाठ के रूप में देख सकता है। वे कहती हैं—पुरुषों के चित्त विष से भरे होते हैं। स्त्री में कलंक न होने पर भी वे कलंक दिखाते हैं। वे दूसरों

1. *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग* : नामवर सिंह, पृ. 183

का तो विश्वास ही नहीं करते—यहाँ तक कि पुत्र, देवर, भाई और पिता का भी नहीं।[1] कहने की ज़रूरत नहीं कि सीता के इस कथन के मूल में राम के मन की शंकाएँ ही हैं। पुरुष प्रधान समाज में पुरुष स्वयं को नैतिकता के सभी मानों से ऊपर रखता है पर स्त्री को शंका की दृष्टि से देखना उसकी सहज वृत्ति है। राम जैसा उदात्त चरित्र भी इसका अपवाद नहीं है। जब अयोध्या में सीता के बारे में प्रवाद फैलता है तो राम अपनी गरिमा के विरुद्ध स्त्रियों के बारे में ऐसी ओछी टिप्पणियाँ करते हैं कि राम का पूरा व्यक्तित्व ही भिन्न नज़र आता है। वे कहते हैं स्त्रियाँ निधि के समान प्रयत्नों से संरक्षणीय हैं। गुड़ और घी की खीर की भाँति वे किसी को भी सौंपने योग्य नहीं हैं।[2] ध्यान देने की बात यह है कि ये वही राम हैं जो सीता के लिए विलाप करते हुए जड़ और चेतन का भेद भूल गये थे। रावण जैसे दुर्धर्ष योद्धा से लड़ाई लड़ी थी और अब उसी सीता को गुड़ घी की खीर की तरह रक्षणीय बता रहे हैं। कहा जा चुका है कि स्वयम्भू के लिए राम साधारण मनुष्य ही हैं इसलिए राम की स्त्री सम्बन्धी यह दृष्टि समाज के सामान्य सोच का ही प्रतिबिम्बन करती है। कवि की सहृदयता इस औसत सोच के विरुद्ध और स्त्री के पक्ष में है।

सीता के निर्वासन का निर्णय अपने आप में अत्यन्त निष्ठुर निर्णय है। निष्ठुरता की पराकाष्ठा राम द्वारा लक्ष्मण को दिये गये आदेश में व्यंजित हुई है। वे कहते हैं—हे भाई, तुम इसे दूर करो, जनक तनया को कहीं भी वन में छोड़ आओ। चाहे वह मरे या जिये, उससे अब क्या? क्या दिनमणि के साथ रात रह सकती है। रघुकुल में कलंक मत लगने दो, त्रिभुवन में कहीं अयश का डंका न पिट जाए।[3] इस कथन में वियोग की आशंका का दुख नहीं, सन्देह जन्य आक्रोश और अपने ऊपर कलंक लगने की चिन्ता और तज्जन्य आकुलता भी है। निष्ठुरता की पराकाष्ठा इसलिए भी है कि निर्वासन के समय सीता गर्भवती थीं।

राम जैन धर्म में स्वीकृत नौ वासुदेवों में हैं फिर भी कवि उनके चरित्र की दुर्बलताओं पर से परदा हटाने के लिए तत्पर है। इसीलिए जान पड़ता है कि पौराणिक काव्य लिखते हुए भी स्वयम्भू की दृष्टि लौकिकीकरण की ही रही है।

सीता निर्वासन और अग्नि परीक्षा का वर्णन वाल्मीकि के यहाँ भी है। शुचिता के लिए अग्नि परीक्षा का विधान ही घोर पुरुष सत्ताक मानसिकता की उपज है। यह

---

1. विणु-णिय-भत्तारें जन्तियहें। कुलहरु जें पिसुणु कुलउत्तियहें ॥
   पुरिसहुँ चित्तइँ आसीविसइँ। अलहन्त वि उछिसन्ति मिसइँ ॥
   वीसासु जन्ति णउ इयरहु मि। सुय-देवर-भायर-पियरहु मि ॥ प.च. 78 सन्धि 6-2-4
2. णिहि व पयत्तें परिरक्खेवी। गुलहिय-खीरि व कहो वि ण देवी ॥ प.च. 81 सन्धि 5-8
3. एत्थु वच्छ अवहेरि करेबी। जणय-तणय वणे कहि मि थवेवी ॥
   जीवउ मरउ काइँ किर तत्तिए। किं दिणमणि सहुँ णिवसइ रत्तिएँ ॥
   मं रहु-कुले कलंकु उप्पज्जउ। तिहुअणें अयस-पडहु मं बज्जउ ॥ प.च. 81 सन्धि 8-2-4

तथ्य है कि राम ने सीता का निर्वासन किया था और अग्नि परीक्षा को स्वीकृति दी थी। इसलिए राम की मानसिकता का जो वर्णन स्वयम्भू ने किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक है।

लंका में रहते हुए सीता को कम कष्ट नहीं हुआ होगा। राम के प्रति अडिग आस्था और प्रेम के बल पर वह सारा कष्ट झेल गयीं। अब यह निर्वासन तो राम का दिया हुआ था। भौतिक कष्ट से कहीं ज़्यादा मानसिक सन्तापकारी स्थिति में सीता का अमर्ष और आक्रोश देखने लायक है, "पत्थर हृदय राम का नाम मत लो। उनसे मुझे कभी सुख नहीं मिला, मैं यह जानती हूँ। जिसने मुझे रोती हुई अवस्था में डाइनों, राक्षसों और भूतों से भयंकर वन में छुड़वा दिया जिसमें यम और विधाता भी अपने प्राण छोड़ देते। जिसने बिना मुझसे पूछे मुझे वन में छुड़वा दिया अब उनके विमान भेजने का क्या मतलब? चुग़लखोरों के कहने पर उन्होंने मुझे जो आघात पहुँचाया है उसकी जलन सैकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती।"[1] इस दारुण दाह में दग्ध होकर सीता का व्यक्तित्व कंचन की तरह निखर उठता है। कवि ने ऐसी सीता के आगमन का भव्य वातावरण प्रस्तुत किया है। अग्नि परीक्षा के लिए वरासन पर बैठी सीता उसे जिन शासन पर बैठे देवता की तरह लगती हैं। अपमानित और लांछित सीता, जिन्हें अग्नि परीक्षा से गुज़र कर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी है, के ओज के लिए अपने धर्म के सर्वोच्च पुरुष से उपमा देना कवि की उदारता का प्रमाण तो है ही, स्त्री के प्रति पुरुष द्वारा की गयी अवहेलना और अपमान के विरुद्ध कवि की सक्रिय करुणा का आख्यान भी है।

यहीं पर राम सीता को पहली बार देखते हैं और हँस कर कहते हैं—स्त्री चाहे जितनी कुलीन और अनिन्द्य हो, वह बहुत निर्लज्ज होती है। भय से वे अपने कटाक्ष तिरछे दिखलाती हैं परन्तु उनकी मति कुटिल होती है और उनका अहंकार बढ़ा होता है। बाहर से ढीठ होती हैं और गुणों से रहित। उनके सौ टुकड़े भी कर दीजिए परन्तु फिर भी हीन नहीं होतीं। अपने कुल में दाग़ लगाने से भी वे नहीं झिझकतीं और न इस बात से कि त्रिभुवन में उनके अयश का डंका बज सकता है। अंग समेट कर धिक्कारनेवाले पति को कैसे अपना मुख दिखाती है।[2] राम की यह मलिन वाणी और विचार सीता की शुभता और तेजोदीप्ति को द्विगुणित कर देते हैं। सीता गर्व

---

1. जो तेण ढाहु उप्पाइयउ पिसुणालाव-मरीसिएँण।
सो दुक्करु उल्हाविज्जइ मेह सएण वि वरिसिएण ॥ प.च. 83 सन्धि 6-8

2. जइवि कुलुग्गयाउ णिरवज्जउ। महिलउ होन्ति सुट्ठ, णिल्लज्जउ ॥
दर-दाविय-कडक्ख-विक्खेवउ। कुडिल-मइउ वड्ढिय-अवलेवउ ॥
बाहिर-घिट्ठउ गुण-परिहीणउ। किह सय-खण्ड ण जन्ति णिहीणउ ॥
णउ गणन्ति णिय-कुल मइलन्तउ। तिहुअणें अयस-पडहु वज्जन्तउ ॥
अङ्गु समोड्डेवि धिद्धिक्कारहों। वयणु णिएन्ति केम भत्तारहो ॥ प.च. 83 सन्धि 8, 2-6

से अपना सिर ऊपर करके कहती हैं—पुरुष गुणवान होकर भी श्रीहीन होता है, मरती हुई स्त्री का भी विश्वास नहीं करता।[1]

अन्ततः सीता की अग्नि परीक्षा होती है वे अग्नि से तो सकुशल जीवित निकल आती हैं पर स्वयम्भू का जैन दृष्टिकोण प्रबल होता है। सीता राम को दोष मुक्त करते हुए सारा कुछ कर्मफल पर डाल देती हैं। अग्नि परीक्षा के बाद सीता के इस रूप पर टिप्पणी करते हुए नामवर सिंह कहते हैं—खेद है कि जिस स्वर्ण प्रतिमा को कवि ने इतने परिश्रम से गढ़ कर तैयार किया उसे अपने ही हाथों जलाकर क्षार कर दिया। कवि को क्या पता कि उसकी सृष्टि अग्नि प्रवेश से पहले जितनी ही तेजोमयी थी, उससे निकलने के बाद उतनी ही म्लान भस्मावृत चिनगारी मात्र रह गयी।[2] निश्चय ही अग्नि से निकलने के बाद सीता जिस तरह इस पूरे विवाद को खोटे कर्मों का फल कहकर समाप्त करना चाहती हैं उससे वे भस्मावृत चिनगारी ही रह जाती हैं। पर इसी के साथ सीता का यह वाक्य—

एवहि तिह करेमि पुणु रहुवइ। जिह ण होमि पडिवारी-तियमइ ॥[3]

अर्थात् हे राम ऐसा करिए जिससे दुबारा स्त्री जन्म न मिले। सीता का यह कथन पुरुष सत्ताक समाज पर तमाचे की तरह है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की घुटन की इससे मार्मिक अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है।

स्वयम्भू ने स्त्री को सर्वत्र यह सहानुभूति दी है। जहाँ भी स्त्री के साथ अन्याय होता है स्वयम्भू जनसमूह की सहानुभूति भी स्त्री के पक्ष में दिखाते हैं। सीता और राम के प्रसंग में राम अकेले पड़ गये हैं। उपस्थित सारा समुदाय सीता की प्रशंसा और राम की भर्त्सना करता है।

रिट्ठणेमिचरिउ में जब कीचक द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करता है तो पुर की नारियों की सहानुभूति सैरन्ध्री बनी द्रौपदी के साथ है। वे राजसत्ता की भर्त्सना करती हैं—इस दग्ध शरीर को धिक्कार है उसने यह क्या किया? कुलीन नारियों का तो मरण हो गया। जहाँ राजा इतना दुराचार करता हो, वहाँ भला सामान्य जन क्या करेंगे—

ओसरिउ विओ यरु सण्णियउ। पुर-वर-णारिउ आदण्णियउ ॥
धि-धि दड्ढ-सरीरें काइ किउं। कुल-जायहं जायहं मरणु थिउ ॥
जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ। तहिं जणु सामण्णु काइं करइ ॥[4]

---

1. पुरिस णिहीण होन्ति गुणवन्त वि। तियहें ण पत्तिज्जन्ति मरन्त वि ॥ *प.च.* 83 सन्धि 8-8
2. *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग* : नामवर सिंह, पृ. 187
3. *प.च.* 83 सन्धि 17-9
4. *रिट्ठणेमिचरिउ*, कीचक वध 8, 6-8

द्रौपदी महाभारत की सबसे तेजस्वी स्त्री पात्र है उसके अमर्ष का जैसा जीवन्त वर्णन स्वयम्भू ने किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उधर सीता हैं जिन्हें राम से विवाह करने के बाद कभी सुख नहीं मिला। इधर द्रौपदी का भी यही हाल है। वह कहती है—मुझे कौन सा सुख है? धीरज का क्या आधार है जहाँ तुम पाँचों भाई सेवक बने हुए हो और मुझे सैरन्ध्री के रूप में काम करना पड़ रहा है वहाँ कौन सा सुख है? कवि स्वयं द्रौपदी के प्रसंग में सीता के दुख को याद करता है। भीम द्रौपदी को समझाते हुए कहते हैं, "देखो क्या रावण को सीता ने कम दुख दिया था।"[1] अभिप्राय यह कि कवि की अन्तर्दृष्टि स्त्री जीवन के भीतर के दुख को न केवल अच्छी तरह देख पाती है, बल्कि उसके पक्ष में खड़ी दिखाई पड़ती है। कीचक वध के प्रसंग में भीम के क्रोध और द्रौपदी के अमर्ष के साथ कवि का जैसा तादात्म्य दिखाई पड़ता है, उसके मूल में उसकी यह संवेदनशीलता ही है।

भव्य विराट और उदात्त दृश्यों को देखकर स्वयम्भू को प्रायः महाकाव्य की याद आती है। समुद्र की गहराई देखकर उन्हें महाकाव्य की गहराई याद आती है वे समुद्र को 'कहकव्वे-णिबन्धु' व 'सद्दगहिरु' कह उठते हैं। पावस प्रसंग में मेघ जाल को पसरते देख सुकवि के काव्य का प्रसार याद आता है। स्वयम्भू के काव्यादर्श की उदात्तता ऐसी अप्रस्तुत योजनाओं से रूपायित होती है। नामवर सिंह को उचित ही समुद्र की गहराई देखकर स्वयम्भू जैसे महाकवि के काव्य की गहराई की याद आती है।[2]

स्वयम्भू के महाकाव्य में व्यापकता और गहराई इसीलिए आ सकी है कि उनकी कविता का उद्देश्य विराट है। पांडित्य और काव्यशास्त्रीय ज्ञान से कौशल और चमत्कार प्रदर्शन सम्भव है पर कविता का मर्म तो मानव हृदय की गहराइयों में उतरकर ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव हृदय की गहराइयों में उतरने के लिए ही कवि सारे पांडित्य और काव्यशास्त्रीय कौशल को दूर से प्रणाम कर देता है। मनुष्य की श्रेष्ठता के प्रति कवि का अखंड विश्वास उसकी मूल पूँजी है जिसके आधार पर उसने अपने महाकाव्य का प्रासाद खड़ा किया है। जैन धर्म में कवि की निष्ठा असन्दिग्ध है। एक तरह से जैन दृष्टिकोण की प्रस्तुति काव्य रचना का प्रमुख उद्देश्य ही है, पर कवि का अन्तिम उद्देश्य मनुष्य है। कवि के सामने यह स्पष्ट है कि धर्म का उद्देश्य भी मनुष्य ही है इसलिए स्वयम्भू का जैन धर्म आचार्यों की संकीर्णता से मुक्त है। मनुष्य के प्रति कवि की अगाध आस्था उसके दृष्टिकोण को इतना व्यापक

---

1. *रिट्ठणेमिचरिउ*, कीचकवध, 10-11
2. *हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग* : नामवर सिंह, पृ. 192

बनाती है कि वह धर्म की सीमाओं का अतिक्रमण कर देता है। कवि की संवेदनशीलता उसे सर्वत्र अन्याय के विरुद्ध खड़ा करती है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के प्रति होनेवाले अन्याय पर कवि का भाव उसकी उदार मनुष्यता का ही प्रमाण है।

काव्य-कौशल पर कवि का अचूक अधिकार उसका उदात्त दृष्टिकोण, लोकसुख में आत्मसुख का अनुभव करने की उदारता और सब कुछ के ऊपर मनुष्य का हित देखने की उद्दाम आकांक्षा स्वयम्भू को सच्चे अर्थों में महाकवि बनाती हैं।

7

उपसंहार

अपभ्रंश सातवीं शती से बारहवीं शती तक उत्तर भारत में लोक व्यवहार की भाषा रही है। सामान्य जनता के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा और सपनों की अभिव्यक्ति इसी में हो रही थी। शायद इसीलिए अपने अस्तित्व में आने के सौ वर्ष के भीतर ही अपभ्रंश श्रेष्ठ साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। अपभ्रंश की साहित्य परम्परा ने अनेक लोक प्रवृत्तियों का संवहन तो किया ही, हिन्दी आदि अन्य परवर्ती भारतीय आर्य भाषाओं में लोकोन्मुखता की धारा प्रवाहित की।

अपभ्रंश भाषा को यह गौरव और गरिमा प्रदान करने में महाकवि स्वयम्भू की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पउमचरिउ* और *रिट्ठणेमिचरिउ* की रचना करके स्वयम्भू ने देशी भाषा में महाकाव्य लिखने की चुनौती को सम्भव कर दिखाया। महाकाव्य लिखने के लिए कड़वकबद्ध शैली विकसित कर स्वयम्भू ने आगे के देशी भाषा कवियों का मार्ग प्रशस्त किया। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि स्वयम्भू ने महाकाव्य में आकाश की व्यापकता और समुद्र-सी गहराई की अवधारणा विकसित की, जिसने देशी भाषा में रचना करनेवाले कवियों को दूर तक प्रेरित और प्रभावित किया।

स्वयम्भू छन्द की रचना से स्वयम्भू न केवल अपने समकालीन और पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवियों की स्मृति इतिहास के बीहड़ थपेड़ों से सुरक्षित लाने में सफल हुए, बल्कि अपभ्रंश की समृद्ध लौकिक काव्य-परम्परा का आभास देने में भी सफल हुए हैं। अपभ्रंश की जैन और बौद्ध धर्म से जुड़ी रचनाएँ अपने धार्मिक आश्रयों में सुरक्षित रह सकीं पर लौकिक साहित्य इतिहास के बीहड़ में निहत्था छूट गया। 'स्वयम्भू छन्द' ऐसे विपुल साहित्य राशि की बानगी देने के साथ ही परवर्ती आचार्य राजशेखर के 'छन्दशेखर' और हेमचन्द के *सिद्ध हेम शब्दानुशासन* जैसी ऐतिहासिक कृतियों की रचना के लिए प्रेरणाभूमि भी तैयार करता है। स्वयम्भू द्वारा आविष्कृत और प्रयुक्त छन्दों की हज़ार वर्षों से ज़्यादा की अविरल यात्रा उनके कालजयी होने का एक और आयाम है।

स्वयम्भू जैन कवि थे। अपनी रचनाओं के माध्यम से जैन धर्म को लोकप्रिय

बनाने का उद्देश्य उनके यहाँ साफ़ दिखाई पड़ता है, लेकिन यह तथ्य भी उतना ही स्पष्ट है कि धर्म स्वयम्भू को संकीर्ण नहीं उदार बनाता है। इसके पीछे मनुष्य की सत्ता पर विश्वास और मानवीय सौन्दर्य में कवि की अटूट आस्था ही काम करती है। कवि ने अपने दोनों महाकाव्यों में यह विश्वास पुष्ट किया है, "मनुष्य क्षेत्र से श्रेष्ठ और कोई क्षेत्र नहीं है।" भक्तियुग में इसे चंडीदास 'सबार उपर मानुसात अबार किछु नाहीं' कह कर व्यक्त करते हैं। मनुष्य की सत्ता में यह विश्वास ही स्वयम्भू की मूल पूँजी है।

स्वयम्भू का समय राजनीतिक और सामाजिक विशृंखलता का युग था। ऐसे युग में स्वयम्भू जैसे कवि का होना इस बात का प्रमाण है कि अपने काल से टकराकर कवि काल के वाहर झाँकने की दृष्टि और क्षमता प्राप्त करता है। यह दृष्टि और क्षमता ही स्वयम्भू को पथ प्रदर्शक कवि और उनके कवि कर्म को कालजयी बनाती है।

चयन

पउमचरिउ से

आत्म परिचय

वुहयण सयम्भु पइँ विण्णवइ। मइँ सरिसउ अण्णु णाहिं कुकइ ॥1॥
वायरणु कयावि ण जाणियउ। णउ वित्ति-सुत्तु वक्खाणियउ ॥2॥
णउ पच्चाहारहो तत्ति किय। णउ संधिहेँ उप्परि बुद्धि थिय ॥3॥
णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ। छव्विहउ समास-पउत्तियउ ॥4॥
छक्कारय दस लयार ण सुय। वीसोवसग्ग पच्चय वहुय ॥5॥
ण वलावल धाउ णिवाय-गणु। णउ लिङ्गु उणाइ वक्कु वयणु ॥6॥
ण णिसुणिउ पञ्च-महाय-कव्वु। णउ भरहु गेउ लक्खणु वि सव्वु ॥7॥
णउ वुज्झिउ पिङ्गल-पत्थारु। णउ भम्मह-दंडि-अलंकारु ॥8॥
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि। वरि रड्डावड्डु कव्वु करमि ॥9॥
सामण्ण भास छुडु सावडउ। छुडु आगम जुत्ति का वि घडउ ॥10॥
छुडु होन्तु सुहासिय-वयणाइँ। गामिल्ल-भास-परिहरणाइँ ॥11॥
एँहु सज्जण-लोयहो किउ विणउ। जं अवुहु पदरिसिउ अप्पणउ ॥12॥
जइ एम विरूसइ को वि खलु। तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु ॥13॥

घत्ता

पिसुणें किं अब्भत्थिएँण जसु को वि ण रुच्चइ।
किं छण-चन्दु महागहेँण कम्पन्तु वि मुच्चइ ॥14॥ 1/3

[वुधजनो, यह स्वयम्भू कवि आप लोगों से निवेदन करता है कि मेरे समान दूसरा कोई कुकवि नहीं है। कभी मैंने व्याकरण को न जाना, न ही वृत्तियों और सूत्रों की व्याख्या की। प्रत्याहारों में भी मैंने सन्तोष प्राप्त नहीं किया। सन्धियों के ऊपर मेरी बुद्धि स्थिर नहीं। सात विभक्तियाँ भी नहीं सुनीं, और न छह प्रकार की समास-प्रवृत्तियाँ ही। छह कारक और दस लकार नहीं सुने। बीस उपसर्ग और बहुत से प्रत्यय भी नहीं सुने। बलाबल धातु और निपातगण, लिंग, उणादि वाक्य और वचन भी नहीं सुने। पाँच महाकाव्य नहीं सुने, और न भरत का सब लक्षणों से युक्त गेय सुना। पिंगल शास्त्र के प्रस्तार को नहीं समझा। और न दंडी और भामह के

अलंकार भी। तो भी मैं अपना व्यवसाय नहीं छोड़ूँगा, बल्कि रड्डाबद्ध शैली में काव्य रचना करता हूँ। सम्प्राप्त सामान्य भाषा में कोई आगम युक्ति को गढ़ता हूँ। ग्राम्य भाषा के प्रयोगों से रहित मेरी भाषा सुभाषित हो। मैंने यह विनय सज्जन लोगों से ही की है और अपना अज्ञान प्रदर्शित किया है। यदि इतने पर भी कोई दुष्ट रूठता है तो उसके छल को मैं हाथ उठाकर लेता हूँ। (1-13)

उस दुष्ट की अभ्यर्थना से भी क्या लाभ, जिसे कोई भी अच्छा नहीं लगता? क्या काँपता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा महाग्रहण से बच पाता है?]

राजा श्रेणिक की तर्कपूर्ण जिज्ञासा

घत्ता

परमेसर पस्सारणेंहि सुब्वइ विवेरही।
कह जिण-सासणें केम थिय कह राहव-केरी ॥9॥ 1/9
जगें लोऍ हि ढक्करिवन्तएहिँ। उप्पाइउ भन्तिउ मन्तएहिँ ॥1॥
जइ कुम्में धरियउ धरणि-वीढु। तो कुम्मु पडन्तउ केण गीढु ॥2॥
जइ रामहोँ तिहुअणु उवरेँ माइ। तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ ॥3॥
अण्णु वि खरदूसण-समरें देव। पहु जुज्झइ सुज्झइ भिच्चु केँव ॥4॥
किह तियमइ-कारणेँ कविवरेण। वाइज्जइ वालि सहोयरेण ॥5॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहन्ति। वन्धेँवि मयरहरु समुत्त रन्ति ॥6॥
किह रावणु दह-मुहु वीस-हत्थु। अमराहिव-भुव-वन्धण-समत्थु ॥7॥
वरिसद्ध सुअइ किह कुम्भयण्णु। महिसा-कोडिहि भि ण धाइ अण्णु ॥8॥

घत्ता

जें परिसेसिउ दहवयणु पर-णारीहिँ समणु।
सो मन्दोवरि जणणि-सम किह लेइ विहीसणु ॥ 1/10

[हे परमेश्वर, दूसरे मतों में राम की कथा उलटी सुनी जाती है, जिनशासन में वह किस प्रकार है, बताइए?

दुनिया में चमत्कारवादी और भ्रान्त लोगों ने भ्रान्ति उत्पन्न कर रखी है। यदि धरती की पीठ कछुए ने उठा रखी है, तो तिरते हुए कछुए को कौन उठाये है। यदि राम के पेट में त्रिभुवन समा जाता है तो रावण उनकी पत्नी का अपहरण कर कहाँ जाता है? और भी हे देव, खर-दूषण के युद्ध में यदि स्वामी युद्ध करता है, तो उससे अनुचर कैसे शुद्ध होता है? सगे भाई सुग्रीव ने स्त्री के लिए अपने भाई बाली को किस प्रकार मारा? क्या वानर पहाड़ उठा सकते हैं, समुद्र को बाँधकर पार कर सकते हैं? क्या रावण दसमुख और बीस हाथों वाला था?

क्या वह इन्द्र के हाथों को बाँधने में समर्थ था? क्या कुम्भकर्ण आधे वर्ष सोता था, और करोड़ भैंसों का भी अन्न उसे पूरा नहीं होता था?

जिसने रावण को समाप्त करवाया, परस्त्रियों के प्रति जिसका मन अच्छा था, वह विभीषण माँ के समान मन्दोदरी को किस प्रकार पत्नी के रूप में ग्रहण करता है?]

मन्दोदरी का रूप

दीसइ तेण वि सहसत्ति वाल। णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल ॥1॥
दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त। णं महुर-राव वन्दिण पढन्त ॥2॥
दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु। णं कामएव-अत्थाण-मग्गु ॥3॥
दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति। णं कसण-वाल-सप्पिणि ललन्ति ॥4॥
दीसन्ति सिहिण उवसोह देन्त। णं उरयलु भिन्देँवि हत्थि-दन्त ॥5॥
दीसइ पप्फुल्लिय-वयण-कमलु। णीसासामोयासत्त-भसलु ॥6॥
दीसइ सुणासु अणुहुअ-सुअन्धु। णं णयण-जलहों किउ सेउ-बन्धु ॥7॥
दीसइ णिडालु सिर-चिहुर-छण्णु। ससि-विम्बु व णव-जलहर-णिमण्णु ॥8॥

घत्ता

परिभमई दिट्ठि तहों तहिं जेँ तहिँ अण्णहिँ कहि मि ण थक्कइ।
रस-लम्पड महुयर-पन्ति जिम केयइ मुएँ वि ण सक्कइ ॥9॥ 10/3

[उसने भी सहसा बाला को देखा, मानो, भ्रमरों ने अभिनव कुसुममाला को देखा हो। मुखर चंचल नूपुर ऐसे लगते थे मानो चारण मधुर स्वर में पढ़ रहे हैं। मेखला से रहित नितम्ब ऐसे दिखाई देते हैं मानो कामदेव के आस्थान का मार्ग हो, धीरे-धीरे चढ़ती हुई रोमावली ऐसी दिखाई देती है, मानों काली बाल नागिन शोभित हो, शोभा देनेवाले स्तन ऐसे दिखाई देते हैं, मानो हृदयों को भेदने के लिए हाथीदाँत हों। खिला हुआ मुख-कमल ऐसा दिखाई देता है जैसे निःश्वासों के आमोद में अनुरक्त भ्रमर उसके पास हों। अनुभूत सुगन्ध उसकी नाक ऐसी मालूम देती है मानो नेत्रों के जल के लिए सेतुवन्ध बना दिया गया हो। सिर के बालों से आच्छन्न ललाट ऐसा दिखाई देता है मानो जैसे चन्द्रबिम्ब नवजलधर में निमग्न हो।

उस पर उसकी दृष्टि जहाँ भी पड़ती वह वहीं घूमती रहती। दूसरी जगह वह ठहरती ही नहीं। उसी प्रकार जिस प्रकार रसलम्पट मधुकर पंक्ति केतकी को नहीं छोड़ पाती।]

प्रभात वर्णन

विमलें विहाणएँ कियणँ पयाणएँ उययइरि-सिहरें रवि दीसइ ।
मइँ मेल्लेप्पिणु णिसियरु लेप्पिणु कहिं गय णिसि णाइँ गवेसइ ॥1॥
सुप्पहाय-दहि-अंस-रवण्णउ। कोमल-कमल-किरण-दल-छण्णउ ॥1॥
जय-हरें पइसारिउ पइसन्तें। णावइ मंगल-कलसु वसन्तें ॥2॥
फग्गुण-खलहों दूउ णोसारिउ। जेण विरहि जणु कह व ण मारिउ ॥3॥
जेण वणप्फइ-पय विब्भाडिय। फल-दल-रिद्धि मडप्फर साडिय ॥4॥
गिरिवर गाम जेण धूमाविय। वण-पट्टण-णिहाय संताविय ॥5॥
सरि-पवाह-मिहुणइँ णासन्तइँ। जेण वरुण-घण-णियलें हिं घित्तइँ ॥6॥
जेण उच्छु-विड जन्तें हिं पीलिय। पव-मण्डव-णिरिक्क आवीलिय ॥7॥
जासु रज्जें पर रिद्धि पलासहों। तहों मुहु मइलें वि फग्गुण-मासहों ॥8॥

घत्ता

पङ्कय वयणउ कुवलय णयणउ केयइ-केसर-सिर-सेहरु।
पल्लव करयलु कुसुम-णहुज्जलु पइसरइ बसन्त-णरेसरु ॥9॥ 14/1

[दूसरे दिन सुन्दर सवेरा होने पर रावण ने प्रयाण किया। उदयगिरि के सिर पर सूर्य दिखाई दे रहा था, मानो यह खोजते हुए कि मुझे छोड़कर और निशाकर को लेकर निशा कहाँ चल दी?

सुप्रभात के दही के समान किरणों से सुन्दर और कोमल किरणों के दल से आच्छन्न, अरुण सूर्यपिंड ऐसा मालूम पड़ता है मानो वसन्त ने अपने जयगृह में प्रवेश करते हुए, मंगलकलश का प्रवेश कराया हो, फागुनरूपी दुष्ट के दूत को निकाल दिया गया जिसने विरहीजनों को किसी प्रकार मारा भी नहीं था, जिसने वनस्पतिरूपी प्रजा को तहस-नहस कर दिया, फलों और पत्तों की ऋद्धि को नष्ट कर दिया, गिरि और गाँवों को जिसने कुहरे से भर दिया, वन और नगरों के समूह को जिसने ख़ूब सताया, नदी के प्रवाह मिथुनों को नष्ट कर जिसने वरण के हिम धन की शृंखलाओं में डाल दिया, जिसने इक्षुवृक्षों को यन्त्रों से पीड़ित किया, तैरने के मंडपसमूह को पीड़ा पहुँचायी, जिसके राज्य में केवल पलाश को ही वृद्धि प्राप्त हुई, उस फागुन माह का मुख काला करके।

पंकज है मुख जिसका, कुवलय जिसके नेत्र हैं, केतकी का पराग सिरशेखर है, पल्लव करतल हैं, कुसुम उज्ज्वल नख हैं, ऐसा वसन्तरूपी नरेश्वर प्रवेश करता है।

डोला तोरण वारें पईहरें। पइठु वसन्तु वसन्त सिरी हरें ॥1॥
सररुह वासहरें हिं रव-णेउरु। आवासिउ महुअरि-अन्तेउरु ॥2॥

कोइल-कामिणीउ उज्जाणेहिं। सुय-सामन्त लयाहर-थाणेँहिँ ॥3॥
पङ्कय-छत्त-दंड सर णियरँहिं। सिहि-साहुलउ महीहर-सिहरेँहिँ ॥4॥
कुसुमा-मञ्जरि-धय सहारेहिं। दवणा-गण्ठिवाल केयारेँहिं ॥5॥
वाणर-मालिय साहा-वन्देँहिं। महुअर मत्तवाल (मयरन्देँहि) ॥6॥
मञ्जु ताल कल्लोलावासेँहिं। भुञ्जा अहिणव-फल-महणासेँहिं ॥7॥
एम पइट्ठु विरहि विद्धन्तउ। गयवइ-धम्मेँहिं अन्दोलन्तउ ॥8॥

घत्ता

पेक्खें वि एन्तहोँ रिद्धि वसन्तहोँ महु-इक्खु सुरासव-मन्ती।
गम्मय-वाली भुम्भल-भोली णं भमइ सलोणहोँ रत्ती ॥9॥ 14/2

झूलों और वन्दनवारों से जिसके द्वार सजे हुए हैं, ऐसे वसन्त के श्रीगृह में वसन्त ने प्रवेश किया। कमलों के वास-गृहों में शब्द ही हैं नूपुर जिसके, ऐसा मधुकरीरूपी अन्तःपुर ठहर गया। कोयलरूपी कामिनी उद्यानों में शुकरूपी सामन्त लतागृहों में, पंकजों के छत्र और दंड सरोवर-समूह में, मयूर और कोयल, महीधरों के शिखरों पर, कुसुमों की मंजरी रूपी ध्वजाएँ आम्र वृक्षों पर दवणरूपी ग्रन्थपाल केदार वृक्षों में, वानर रूपी माली शाखा-समूहों में, मधुकररूपी मत्त बाल परागों में, सुन्दर ताल लहरों के आवासों में, भोजनक अभिनव फलों के भोजनगृहों में ठहरा दिये गये। इस प्रकार विरहीजनों को सताते हुए, गजगति से झूमते हुए वसन्त ने प्रवेश किया।

आते हुए वसन्त की ऋद्धि देखकर मधु, ईख और सुरासव से मतवाली तथा विह्वल और भोली नर्मदारूपी बाल प्रिय से अनुरक्त होकर घूमने लगती है।]

गोदावरी का वर्णन

वणमाल णियत्तेँवि भग्गमाण। गय लक्खण-राम सुपुज्जमाण ॥1॥
थोवन्तरेँ मच्छुत्थल्ल देन्ति। गोला-णइ दिट्ठ समुव्वहन्ति ॥2॥
सुंसुअर-घोर-घुरुघुरुहुरन्ति। करि-मयरड्डोहिय-डुहुडुहन्ति ॥3॥
डिण्डीर-सण्ड मण्डलिउ देन्ति। दद्दुरय-रडिय-दुरुदुरुदुरन्ति ॥4॥
कल्लोलुल्लोलहिं उव्वहन्ति। उग्घोस - घोस - घवघवघवन्ति ॥5॥
पडिखलण-वलण खलखलखलन्ति। खलखलिय-खलक्क-झडक्क देन्ति ॥6॥
ससि-सङ्ख-कुन्द-धवलोज्झरेण। कारण्डुडाविय-डम्वरेण ॥7॥

घत्ता

फेणावलि-वङ्किय वलयालङ्किय णं महि-कुलवहुणअहे तणिय।
जलणिहि-भत्तारहोँ मोत्तिय-हारहोँ वाह पसारिय दाहिणिय ॥8॥ 31/3

[इस प्रकार भग्न होती हुई वनमाला को नियन्त्रित कर पूज्यमान राम लक्ष्मण चले गये। थोड़ी दूर पर उन्हें मत्स्यों से उछाल देती हुई और बहती हुई गोदावरी दिखाई दी। शिशुमारों के घोर घुर-घुर शब्द से घुरघुराती हुई, गज और मगरों से आलोड़ित डुह-डुह करती हुई, फेनसमूह का मंडल देती हुई मेढकों की रटन्त से दुर-दुर करती हुई, लहरों के कल्लोल से बहती हुई, उद्घोप के घोष से घव-घव करती हुई प्रतिस्खलन और मुड़ने से खल-खल करती हुई, जिसने हंसों को उड़ाने का आडम्बर किया है, ऐसे चन्द्र, शंख और कुन्द पुष्प के समान धवल निर्झर से स्खलित चट्टानों को झटका देती हुई, जिसके पास मोती का हार है।

ऐसे समुद्ररूपी पति के लिए प्रसारित फेनावलि से वक्र तथा वलय से अंकित जो मानो धरतीरूपी कुलवधू की दायीं बाँह हो।]

सीता का नख-शिख वर्णन

हरि पहरन्तु पसंसिउ जावेँहिँ । जाणइ णयणकडक्खिय तावेँहिँ ॥1॥
सुकइ-कह व्व सु-सन्धि सु-सन्धिय। सु-पय सु-वयण सु-सद्द सु-वद्धिय ॥2॥
थिर-कलहंस-गमण गइ-मन्थर। किस मज्झारेँ णियम्बे सु-वित्थर ॥3॥
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी। णं पिम्पिलि-रिञ्छोलि विलिण्णी ॥4॥
अहिणव-हुण्ड-पिण्ड-पीण-त्थण। णं मयगल उर-खम्भ-णिसुम्भण ॥5॥
रेहइ वयण-कमलु अकलङ्कउ। णं माणस-सरेँ वियसिउ पङ्कउ ॥6॥
सु-ललिय लोयण ललिय पसण्णहँ। णं वरइत्त मिलिय वर-कण्णहँ ॥7॥
घोलइ पुट्टिहिँ वेणि महाइणि। चन्दण-लयहिँ ललइ णं णाइणि ॥8॥

घत्ता

किं वहु-जम्पिएँण तिहिँ भुवणँहिँ जं जं चङ्गउ।
तं तं मेलबेवि णं दइवें णिम्मिउ अंगउ ॥9॥38/3

[जब वह प्रहार करते हुए लक्ष्मण की प्रशंसा कर रहा था, तभी उसे सीता दिखाई दी, जो सुकवि की कथा की तरह सुन्दर सन्धियों से जुड़ी हुई थी, सुन्दर पद (चरण और पद), सुवचन (सुन्दर बोली और वचन), सुशब्द (सुन्दर शब्दों वाली) और सुबद्ध (अच्छी तरह निबद्ध) थी। स्थिर कलहंस के समान चलनेवाली, गति में मन्थर, मध्य में कृश, नितम्ब में अत्यन्त विस्तारवाली, नाभिप्रदेश से निकली हुई रोमराजि इस प्रकार थी मानो चींटियों की कतार विलीन हो गयी हो। जो अभिनव (हुंड) शरीर पीन स्तनोंवाली थी मानो उर रूपी खम्भों को नाश करनेवाला मतवाला गज हो। उसका कलंकरहित मुख कमल शोभित है, मानो मानसरोवर में कमल खिला हुआ हो। सुन्दर लोचन ऐसे हैं मानो ललित प्रसन्न श्रेष्ठ कन्याओं को वर मिल गये हों। उसके पुट्ठों

पर वेणी इस प्रकार व्याप्त है मानो चन्दन लताओं से नागिन लिपटी हुई हो।

अधिक कहने से क्या, तीनों भुवनों में जो-जो श्रेष्ठ हैं उन सबको मिलाकर मानो विधाता ने उसके शरीर की रचना की है।]

रावण का ईर्ष्या भाव

तो एत्थन्तरें णिय-कुल दीवें। रामु पसंसिउ पुणु दहगीवें ॥1॥
जीविउ एक्कु सहलु पर एयहोंॅ। जसु सुहवत्तणु गउ परिछेयहों ॥2॥
जेण समाणु एह धण जम्पइ। मुह-मुहेण तम्बोलु समप्पइ ॥3॥
हत्थें हत्थ धरेंॅ वि आलावइ। चलण-जुअलु उच्छङ्गे चडावइ ॥4॥
जं आलिङ्गइ वलय-सणाहहिँ। मालइ माला कोमल वाहहिँ ॥5॥
जं पेल्लावइ थण-मायङ्गेँहिँ। मुहु परिचुम्बई णाणा-भङ्गेँहिँ ॥6॥
जं अवलोयइ णिम्मल-तारेँहिँ। णयणहिं विब्भम भरिय-वियारेँ हिँ ॥7॥
जं अणुहुञ्जइ इच्छेँ वि णिय-मणेँ। तासु मल्लु को सयलें वि तिहुअणेँ ॥8॥

घत्ता

धणउ एहु णरु जसु एह णारि हियइच्छिय।
जाव ण लइय मइँ कउ अंगहोॅ ताव सुहच्छिय॥9॥ 38/4

[इसके अनन्तर अपने कुल के दीपक रावण ने राम की प्रशंसा की। केवल इसका जीवन सफल है कि जिसका सुभगत्व चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है, जिसके साथ यह कन्या बात करती है, बार-बार उन्हें पान समर्पित करती है। हाथ में हाथ लेकर बात करती है। चरण युगल को अपनी गोद में रखती है। जो वह वलयों से सहित, मालती माला के समान कोमल बाँहों से आलिंगन करती है, जो स्तनरूपी महागजों से प्रेरित करती है, जो नाना भंगिमाओं से मुख का चुम्बन करती है, जो स्वच्छ तारिकाओं वाले विभ्रमभरित विकारवाले नेत्रों से देखती है, जो अपने मन में चाहकर अनुभोग करती है, ऐसे उस राम का समस्त त्रिभुवन में कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

यह मनुष्य धन्य है जिसकी यह मनपसन्द स्त्री हैं, जब तक मैं इसे नहीं लेता, तक तक शरीर को सुख कहाँ?]

रावण का उन्माद

सीय णिएवि जाउ उम्माहउ। दहमुहु वम्मह सर-पहराहउ ॥1॥
पहिलएँ वयणु वियारेहिँ भज्जइ। ऐम्म परव्वसु कहोॅ वि ण लज्जइ ॥2॥
वीयएँ मुह-पासेउ वलग्गइ। सरहसु गाढालिंगणु मग्गइ ॥3॥
तइयएँ अइ विरहाणजु तप्पइ। काम गहिल्लउ पुणु पुणु जम्पइ ॥4॥
चउथएँ णीससन्तु णउ थक्कइ। सिरु संचालइ भउँहउ वङ्कइ ॥5॥

पञ्चमें पञ्चम झुणि-आलावइ। विहसे ँवि दन्त पन्ति दरिसावइ ॥6॥
छट्ठएँ अगुं वलइ करु मोडइ। पुणु दाढीयउ लएप्पिणु तोडइ ॥7॥
वट्टइ तल्लवेल्ल सत्तमयहोँ। मुच्छउ एन्ति जन्ति अट्ठामयहोँ ॥8॥
णवमउ वट्टइ मरणहोँ ढुक्कउ। दसमएँ पाणहिँ कह व ण मुक्कउ ॥9॥

घत्ता

दहमुहु दहमुहेँहिँ जाणइ किर मण्डएँ भुञ्जजमि।
अप्पउ संथवइ, णं णं सुर-लोयहो ँ लज्जमि ॥10॥ 38/5

[सीता को देखकर रावण को उन्माद होने लगा। रावण पर कामदेव के तीरों का प्रहार हो गया। पहली अवस्था में उसका मुख विकारों से भग्न हो जाता है, प्रेम के वशीभूत वह किसी से भी लज्जित नहीं होता। दूसरी में मुख से पसीना निकलने लगा। और वह हर्षपूर्वक प्रगाढ़ आलिंगन माँगने लगता। तीसरी में वह विरहानल से अत्यधिक सन्तप्त हो उठता। काम से ग्रस्त होकर वह बार-बार बोलता। चौथी में निःश्वास लेते हुए नहीं थकता। सिर हिलाता और भौंहों को टेढ़ी करता। पाँचवीं में पंचम स्वर में अलाप करता और हँसकर अपनी दन्तपंक्ति दिखाता है। छठी में शरीर को मोड़ता और हाथ मोड़ता फिर दाढ़ी को पकड़कर नोचता। सातवीं अवस्था में तड़पने लगता। आठवीं में मूर्च्छा आती और जाती। नौवीं में मृत्यु निकट आ पहुँची। दसवीं अवस्था में वह प्राणों से किसी प्रकार मुक्त भर नहीं हुआ।

[दसमुख अपनी संस्तुति करता है, मैं दसमुखों से जानकी का बलपूर्वक आलिंगन करूँगा, नहीं-नहीं सुरलोक को लज्जित करूँगा।]

हनुमान का सीता को ले जाने का प्रस्ताव

तं तेहउ भुञ्जेँवि भोयणउ। पुणु करेँवि वयण-पक्खालणउ ॥
समलहेँवि अङ्गु वर-चन्दणेँण। विण्णत्त देवि मरु-णन्दणेँण ॥1॥
चडु महु तणएँ खन्धेँ परमेसरि। णेमि तेत्थु जहिँ राहव-केसरि ॥2॥
मिलहोँ वे वि पूरन्तु मणोरह। फिट्टउ जणवएँ रामायण-कह ॥3॥
तं णिसुणेवि देवि गञ्जोल्लिय। साहुक्कारु करन्ति पयोल्लिय ॥4॥
सुन्दर णिय घरु गय-गुण वहुअहेँ? एह ण णित्ति होइ कुल वहुअहेँ ॥5॥
गम्मइ वच्छ जइ वि णिय कुलहरु। विणु भत्तारें गमणु असुन्दरु ॥6॥
जणवउ होइ दुगुच्छण-सीलउ। खल-सहाउ णिय चित्तें मइलउ ॥7॥
जहिँ जेँ अजुत्तु तहिँ जेँ आसङ्कइ। मणु रञ्जेँवि सक्को वि ण सक्कइ ॥8॥
णिहएँ दसाणणेँ जय-जय सद्दें। मइँ जाएवउ सहुँ वलहद्दें ॥9॥

घत्ता

जाहि वच्छ अच्छामि हउँ णिम्मल-दसरह वंसुब्भवहोँ।
लइ चूड़ामणि महु तणउ अहिणाणु समप्पहि राहवहोँ ॥10॥ 50/12

[उस वैसे भोजन को कर सीता देवी ने अपने मुख का प्रक्षालन किया। और उत्तम चन्दन के अवलेप के बाद हनुमान ने सीतादेवी से कहा, माँ मेरे कन्धे पर चढ़ जाओ। मैं वहाँ ले जाऊँगा जहाँ श्री राघव सिंह है। वहाँ मिलने से दोनों के मनोरथ पूरे हो जायँगे, और जनपद में रामायण की कथा भी फैल जाएगी। यह सुनकर सीता देवी पुलकित हो उठीं। साधुवाद देकर उन्होंने हनुमान से कहा, गतगुण बहू के लिए इस तरह अपने घर जाना चाहे ठीक हो परन्तु कुलवधू के लिए यह नीति ठीक नहीं। हे वत्स, अपने कुलघर भी जाना हो तो भी पति के बिना जाना ठीक नहीं। फिर जनपद के लोग निन्दाशील होते हैं उनका स्वभाव दुष्ट और मन मलिन होता है। जहाँ जो बात अयुक्त होती है वे वहीं आशंका करने लगते हैं। उनके मन का रंजन इन्द्र भी नहीं कर सकता। इसलिए निशाचर दशानन का वध होने पर जय जय शब्द पूर्वक श्रीराम के साथ अपने जनपद जाऊँगी।

हे वत्स! तुम जाओ मैं यही हूँ। लो, यह मेरा चूड़ामणि। निर्मल दशरथकुल उत्पन्न श्रीराम को पहचान (प्रतीक) रूप में यह अर्पित कर देना।]

सीता का सन्देश

अण्णु वि आलिङ्गेँवि गुण-घणउ। सन्देसउ अक्खु महु त्तणउ।
वल तुज्झु विओएं जणय सुय थिय लीह विसेस ण कह वि मुअ ॥1॥
झीण मयंक लेह गह-गहिय व। झीण सुरिन्द-रिद्धि तव रहिय व ॥1॥
झीण कुदेस-मज्झेँ वासाणि व। झीणाऽवुह मुहेँ सुकइ-सुवाणि व ॥3॥
झीण दिवायर दंसणेँ रत्ति व। झीण कु-जणवएँ जिणवर-भत्ति व ॥4॥
झीण दुभिक्खेँ अत्थ-संपत्ति व। झीण वुढत्तणेण बल-सत्ति व ॥5॥
झीण चरित्त विहूणहोँ कित्ति व। झीण कु-कुलहरेँ कुलवहु-णिति व ॥6॥
अण्णु वि दसरह-वंस पगासहोँ। वच्छत्थलेँ जय-लच्छि-णिवासहोँ ॥7॥
रणेँ दुव्वार-वइरि-विणिवारहोँ। तहोँ सन्देसउ णेहि कुमारहोँ ॥8॥
वुच्चइ पइँ होन्तेण पि लक्खण। अच्छइ सीय रुयन्ति अलक्खण ॥9॥

घत्ता

णउ देवहिँ णउ दाणवेँहि णउ रामें वइरि—वियारएँण।
पर मारेव्वउ दहवयणु स इँ भुअ-जुअलेण-तुहारएँण॥10॥ 50/13

[और भी गुणधन, उनका आलिंगन कर मेरा यह सन्देश कह देना, हे राम, तुम्हारे वियोग में सीता रेख भर रह गई है। किसी प्रकार वह मरी भर नहीं, यही बहुत

है। वह (मैं) राहुग्रस्त चन्द्रलेखा की तरह क्षीण हो गई है। तप से हीन इन्द्र की ऋद्धि की तरह क्षीण है। कुदेश में निवास की तरह वह क्षीण है। मूर्ख के मुँह में कवि की सुवाणी की तरह क्षीण है। सूर्य दर्शन होने पर निशा की तरह क्षीण है। कुजनपद में जिन भक्ति की तरह क्षीण है। दुर्भिक्ष में अर्थसम्पदा की भाँति क्षीण है। वह चरित्रहीन की कीर्ति की तरह क्षीण है। खोटे घर में कुलवधू की तरह क्षीण है। युद्ध में दुर्वार वैरियों को पराजित करनेवाले कुमार लक्ष्मण से भी मेरा यह सन्देश कह देना कि लक्ष्मण, तुम्हारे रहते हुए भी सीता देवी रो रही है।

न तो देवों से, न दानवों से, और न वैरीविदारक राम से रावण का वध होगा। केवल तुम्हारे भुजयुगल से रावण का वध होगा।]

सैनिक अभियान

जस-लुद्धइं अमरिस-कुद्धइँ-हय-तूरइँ किय-कलकलइँ।
अब्भिट्टइँ रहस-विसट्टइँ ताम्व राम्व रामण-वलइँ ॥
वइदेहिहे॑ कारणे॑ अतुल वलइँ। अब्भिट्टइँ रामण-राम वलइँ ॥1॥
णं जुअ खएँ महियल गयणयलइँ। सविमाणइँ विज्जुल-वेय-चलइँ ॥2॥
पडु-पडह-भेरि-गम्भीर-सरइँ। अवरोप्परु अहिणव-रोस-भरइँ ॥3॥
सिल-पाहण-तरु-गिरि-गहिय-करइँ। सव्वल हुलि-हल-करवाल-धरइँ ॥4॥
उग्गामिय-मामिय-भीम-गयइँ। ओरालि-गरुअ-गज्जन्त गयइँ ॥5॥
पडिपेल्लिय रह-हिंसन्त हयइँ। धुअ-धवल-छत्त-धूवन्त-धयइँ ॥6॥
साहीण-पाण-परिचत्त भयइँ। पम्मुक्क-घाय-सङ्घाय-सयइँ ॥7॥
समुहेक्कमेक्क-सञ्छुद्ध-पयइँ। सयवार-वार-उग्घुट्ठ जयइँ ॥8॥

घत्ता

स-पयावइँ कड्ढिय-चावइँ सर-सन्धन्त-मुअन्ताइँ।
णं घडियइँ विण्णि वि भिडियइँ पयइँ सुवन्त-तिङन्ताइँ॥9॥ 61/1

[तूर्य बज उठे। कलकल होने लगा। यश की लोभी और अमर्ष से भरी हुई राम और रावण की सेनाएँ वेग के साथ एक दूसरे से जा भिड़ीं। केवल एक वैदेही के लिए, राम और रावण की अतुल बलशाली सेना, एक दूसरे से भिड़ गयी। ऐसा जान पड़ रहा था मानो युगान्त में धरती और आकाश, दोनों ही आपस में भिड़ गये हों, सेनाओं के पास बिजली के वेगवाले विमान थे। पट-पटह और भेरी की गम्भीर ध्वनि गूँज उठी। आवेश में सेनाएँ एक-दूसरे पर टूट पड़ रही थीं। चट्टानें, पत्थर, पेड़ और पहाड़ उनके हाथ में थे। कुछ सब्बल, हुलिहल और तलवार लिये थे। कुछ सैनिक, विशाल गदा निकालकर उसे घुमा रहे थे। सिंहनाद सुनकर गजमाला गरज रही थी। मुड़ते हुए रथों के अश्व हिनहिना रहे थे। सफेद छत्र और ध्वज हिल-डुल रहे थे। सैनिक अपने प्राणों

का भय छोड़ चुके थे। घावों और संघर्ष की उन्हें रत्तीभर भी परवाह नहीं थी। वे एक-दूसरे के सम्मुख पग बढ़ा रहे थे। इस प्रकार वे सैकड़ों बार अपनी जीत की घोषणा कर चुके थे। दोनों सेनाएँ प्रतापी थीं।

दोनों धनुष पर तीर रखकर चला रही थीं। मानो वे आपस में भिड़ने के लिए ही बनी थीं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शब्द रूप और क्रियारूप, आपस में मिलने के लिए निष्पन्न होते हैं।]

सेनाओं की भिड़न्त

तहिं तेहएँ समरङ्गणे दारुणेँ। कुङ्कुम केसुअ-अरविन्दारुणे ॥1॥
को वि वीरु णासङ्कइ पाणहुँ। पुणु पुणु अङ्गु समोडइ वाणहुँ ॥2॥
को वि वीरु पडिपहरइ पर-बलेँ। पुरउ धाइ पउ देह ण पच्छलेँ ॥3॥
को वि वीरू असहन्तु रणङ्गणे। झम्प देइ पर णरवर-सन्दणेँ ॥4॥
को वि वइरि करेँ धरेँ वि पकड्ढइ। पहरेँ पहरेँ परिओसु पवड्ढइ ॥5॥
को वि सराहउ पडइ विमाणहोँ। णावइ विज्जु-पुञ्जु णिय थाणहोँ ॥6॥
को वि धरिज्जइ वाणेँहि एन्तउ। णं गुरुहिं णरु णरएँ पडन्तउ ॥7॥
को वि दन्ति दन्तेहिँ आलग्गइ। करणु देवि कोँ वि उवरि वलग्गइ ॥8॥

घत्ता

गउ मारेँवि कुम्भु वियारेँवि जाइँ ताइँ कुन्दुज्जलइँ।
गुणवन्तहेँ पाहुडु कन्तहेँ को वि लेइ मुत्ताहलइँ ॥9॥ 61/2

[सचमुच वह भयंकर युद्ध केसर, टेसू और रक्त कमल की तरह लाल हो उठा। फिर भी, उसमें कोई भी योद्धा अपने प्राणों की परवाह नहीं कर रहा था। वे बार-बार, तीरों के सम्मुख अपना शरीर कर रहे थे। कोई एक योद्धा उठता और शत्रु पर हमला बोल देता। कोई एक योद्धा जब अपना क़दम आगे बढ़ा देता तो पीछे क़दम नहीं रखता। एक और योद्धा रण प्रांगण में सहसा आपे से बाहर हो उठता और शत्रु सैन्य रथों पर कूद पड़ता। कोई एक योद्धा, शत्रु को पकड़कर खींच रहा था। पल-पल में उसका परितोष बढ़ रहा था। कोई एक योद्धा तीरों से आहत होकर जब रथों पर जाकर गिरता तो ऐसा लगता कि किसी मकान पर बिजली टूट पड़ी हो। कोई योद्धा तीरों की बौछार में अवरुद्ध हो उठता, मानो आचार्य जी ने नरक में जाते हुए किसी जीव को रोक लिया हो।

[किसी एक योद्धा ने गज को मारकर, उसके मस्तक को चीर डाला, और उसमें कुन्द के समान स्वच्छ, जितने भी मोती थे, वे सब, अपनी पत्नी को उपहार में देने के लिए निकाल लिये।]

हेमुज्जल-दण्ड-वलग्गाइँ। केण वि तोडियइँ धयग्गाइँ॥1॥
ण समिच्छिउ जेण पियहेँ तणउ। तें रुहिरेँ लइउ पसाहणउ ॥2॥
मुहपत्ति ण इच्छिय जेण घरेँ। किय तेण सुहड मज्जेँजवि समरेँ ॥3॥

चिरु जेण ण इच्छिउ दप्पणउ। रहेँ तेण णिहालिउ अप्पणउ ॥4॥
मुहे पण्णयइँ जेण ण लावियइँ। ते रुण्ड-सयइँ णच्चावियइँ ॥5॥
चिरु जेण ण सुरउ समाणिउ। तें रण-वहुअएँ सहुँ माणियउ ॥6॥
णिय-णारि ण इच्छिय आसि जँण। आलिङ्गिय गय-घड बहुय तेँण ॥7॥
जो णहइँ ण देन्तउ णिय-पियाएँ। सो फाडिउ समरङ्गण-तियाएँ ॥8॥

घत्ता

सम्मा-दाण-रिण-भरियउ अच्छिउ जो झूरन्तु चिरु।
सो रणउहेँ सुहडु पणच्चिउ सामिहेँ अग्गएँ देवि सिरु ॥9॥ 61/3

खकिसी एक योद्धा ने स्वर्ण दंड में लगी हुई ध्वजाओं के अगले हिस्से को फाड़ डाला। जिस योद्धा को अपनी पत्नी का आदर नहीं मिला था, उसने युद्ध में रक्त से अपना शृंगार कर लिया। जो अपने घर में मुख पर पत्र रचना नहीं कर सका उसने युद्ध में शत्रुओं को बिछाकर अपना शौक़ पूरा किया। जिस योद्धा ने बहुत समय तक दर्पण नहीं देखा था, उसने रथ में अपना मुख देख लिया। जिसने अभी तक अपने मुख में एक भी पान नहीं खाया था उसने सैकड़ों धड़ों को युद्ध में नचा दिया। जिस योद्धा को अभी तक प्रेमक्रीड़ा का अवसर नहीं मिला था, उसने रणवधू के साथ अपनी इच्छा पूरी की। जिस योद्धा ने आज तक अपनी स्त्री की कामना नहीं की थी, उसने जी भर गजघटा का आलिंगन किया। जो अपनी स्त्री के लिए नख तक नहीं देता था उसे युद्ध भूमि में आज युद्धवधू ने फाड़ डाला।

सम्मान, दान और ऋण के भार से सन्तुष्ट कोई एक योद्धा अभी तक मन-ही-मन खीज रहा था वह युद्ध के प्रांगण में इसलिए नाच उठा कि वह अब अपने स्वामी के लिए अपना सिर दे सकेगा।]

पर्वत का वर्णन

जहिं जुवइ-पऊरु परज्जियाइँ। रत्तुप्पल-कयलि-वणइँ थियाइँ ॥1॥
कामिणि - गइ - छाया-भंसियाइँ। जहिँ हंस-उलइँ आवासियाइँ ॥2॥
कर - करयल - ओहामिय-मणाइँ। जहिं मालइ कङ्केल्ली-वणाइँ ॥3॥
जहिं वयण-णयण-पह-घल्लियाइँ। कमलिन्दीवरइँ समल्लियाइँ ॥4॥
जहिं महुर-वाणि अवहत्थियाइँ। कोइल-कुलाइँ कसणइँ थियाइँ ॥5॥
भउहावलि - छाया वङ्कियाइँ। जहिं णिम्व-दलइँ कडुयइँ कियाइँ ॥6॥
जहिं चिहुर-भार-ओहामियाइँ। वरहिण-कुलाइँ रोवावियाइँ ॥7॥
तं मलउ मुएँवि विहरन्ति जाव। दाहिण-महुरएँ आसण्ण ताव ॥8॥

घत्ता

किष्किन्ध-महागिरि लक्खियउ तुङ्ग सिहरु कोड्डावणउ।
छुडु रमियहेँ पुहइ-विलासिणिहेँ उन-पएसु सोहावणउ ॥9॥ 69/4

[जिस पर्वत पर, युवतीजनों के पैरों और जाँघों को जीतने वाले रक्त कमल और करदली वृक्ष हैं, सुन्दरियों की चाल का आभास देने वाले हसंकुल बसे हुए हैं, जिसमें कर और करतलों का मन नीचा कर देनेवाले मालती और कंकेली के वृक्ष हैं, जिसमें मुख और नेत्रों की आभा को पराजित कर देने वाले कमल और इन्दीवर एक साथ खिले हुए हैं, जिसमें मीठी बोली की अवहेलना करनेवाले काले कोयलकुल हैं, जिसमें भौंहों की छाया से भी कुटिल और कड़वे नीम के कदल हैं, जिसमें बालों की शोभा को क्षीण कर देने वाले मयूरों के कुल सुन्दर नृत्य कर रहे हैं, उस सुन्दर मलय पर्वत को छोड़कर विहार करते हुए वे लोग दायें मुड़े।

वहाँ उन्हें किष्किन्धा पर्वतराज दिखाई दिया। कुतूहल उत्पन्न करनेवाले उसके शिखर ऊँचे थे। वह ऐसा लग रहा था मानो रमणशील धरती रूपी विलासिनी का सुहावना उर-प्रदेश हो।]

राम-रावण युद्ध

जम - धणय - पुरन्दर - डोमरहों । स - उरग - जग - जगडावणहों ।
जिह उत्तर-गउ दाहिण-गयहों। मिडिउ रासु रणें रावणहों ।
तुङ्ग-तुरङ्ग तिक्ख - णक्खुक्खय - रय - कय - जलण - जालए ॥
दुद्दम - दन्ति - दन्त णिहसुट्टिय - सिहि - सिह - विज्जुमालए ॥1॥
दप्पुब्भड-भड-थड संकडिल्लें । हय-फेण-तरङ्गिणि-दुत्तरिल्लें ॥2॥
गय-मय-णइ-कद्दम-भग्ग-मग्गें । करि-कण्ण-पवण पेल्लिय-धयग्गें ॥3॥
चामीयर चामर-दिण्ण-सोहें । छत्तोह-पिहिय-दिणयर-करोहें ॥4॥
धय-दण्ड-सण्ड-मण्डिय-दियन्तें । णर-रुण्ड-खण्ड खाइय-कियन्तें ॥5॥
हय-हिंसिय-भेसिय-रवि-तुरङ्गें । रह-चक्क-चारु-चूरिय-भुअङ्ग ॥6॥
रह सुद्ध खन्ध णच्चिय-कवन्धें । कङ्काल-माल-किय-सेउ-वन्धें ॥7॥
सर-णियर-दिण्ण-भुवणन्तरालें । पडु-पडह-सङ्ख झल्लरि-वमालें ॥8॥
सुर-वहु विमाणें छइयन्तरिक्खें । दुव्विसमें दु-संचरें दुण्णिरिक्खें ॥9॥

घत्ता

तहिँ तेहएँ दारुणें आहयणें गन्धवहुद्धुअ-धवल-धय ।
गज्जन्त-मत्त-मायङ्ग जिह भिडिय परोप्परु हणुव-मय ॥10॥ 75/1

[यम, धनद और इन्द्र के लिए भयंकर, नागलोक सहित संसार में झगड़ा मचानेवाले रावण से राम की उसी प्रकार भिड़न्त हो गयी जिस प्रकार उत्तरायण से दक्षिणायन की। वह युद्ध अत्यन्त भयानक था। ऊँचे-ऊँचे अश्वों के तीखे खुरों के आघात से उठी हुई

धूल से ज्वालमाला छूट रही थी। जो युद्ध दुर्दमनीय हाथियों के दाँतों के और अग्निशिखा के समान विद्युत्प्रभा से भास्वर था। जो युद्ध दर्प से उद्धत योद्धाओं से संकुल एवं अश्वों के फेन की नदी से अत्यन्त दुर्गम था। हाथियों के कानरूपी चामरों से ध्वजों के अग्रभाग उड़ रहे थे। स्वर्ण चामरों की अनूठी शोभा हो रही थी। छत्रसमूह ने सूर्य की किरणों को ढक दिया था। ध्वजदंडों के समूह ने दिशाओं को ढक दिया था। कृतान्त मनुष्यों के घोड़ों के टुकड़ों को खा रहा था। हींसते हुए अश्वों से सूर्य के अश्व डर रहे थे। रथ के पहियों से सर्प चूर-चूर हो रहे थे। वेग से भरे ऊँचे-ऊँचे खन्धों पर धड़ नाच रहे थे। हड्डियों की माला का सेतुबन्ध तैयार किया जा रहा था। तीरों के जाल से धरती का अन्तराल पट चुका था। पट पटह, झल्लरि और शंखादि वाद्यों का कोलाहल हो रहा था। सुरबन्धुओं के विमान आकाश में छाये हुए थे।

इस प्रकार वह युद्ध विषम दुर्गम और दुर्दर्शनीय हो उठा। उस भयंकर युद्ध में पवन से धवल ध्वज फहरा रहे थे। गरजते हुए मैगल हाथियों के समान, मय और हनुमान आपस में भिड़ गये। (1-10)]

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी का विलाप

रोवइ लङ्का पुर-परमेसरि। हा रावण तिहुअण-जण-केसरि ॥1॥
पइँ विणु समर-तूरु कहोँ वज्जइ। पइँ विणु वाल-कील कहोँ छज्जइ ॥2॥
पइँ विणु णव गह-एक्कीकरणउ। को परिहेसइ कण्ठाहरणउ ॥3॥
पइँ विणु को वि विज्ज आराहइ। पइँ विणु चन्दहासु को साहइ ॥4॥
को गन्धव्व-वावि आडोहइ। कण्णहँ छ वि सहासु संखोहइ ॥5॥
पइँ विणु को कुवेरु भञ्जेसइ। तिजगविहूसणु कहोँ वसिहोसइ ॥6॥
पइँ विणु को जमु विणिवारेसइ। को कइलासुद्धरणु करेसइ ॥7॥
सहसकिरण-णलकुव्वर-सक्कहुँ। को अरि होसइ ससि-वरुणवक्कहुँ ॥8॥
को णिहाण-रयणइँ पालेसइ। को वहुरूविणि विज्ज लएसइ ॥9॥

घत्ता

सामिय पइँ भविएण विणु पुप्फ-विमाणोँ चडेँवि गुरु-भत्तिएँ।
मेरु सिहरेँ जिण-मन्दिरइँ को मँइ णेसइ वन्दण-हत्तिएँ ॥10॥ 76/9

[लंका नगरी की स्वामिनी फूट-फूट कर रोने लगी, "त्रिभुवन जन के सिंह हे रावण, अब तुम्हारे बिना युद्ध का नगाड़ा कौन बजवाएगा! अब कौन, तुम्हारे अभाव में बाल क्रीड़ाएँ करेगा! तुम्हारे बिना नवग्रहों को कौन इकट्ठा करेगा! कौन कंठाभरण पहनेगा! तुम्हारे बिना कौन विद्या की आराधना करेगा! कौन चन्द्रहास की साधना करेगा! गन्धर्वों की वापिका में कौन प्रवेश करेगा! छह हजार कन्याओं के मन में कौन क्षोभ उत्पन्न करेगा! तुम्हारे बिना कुबेर का नाश कौन करेगा! त्रिजगभूषण महागज

किसके वश में होगा! तुम्हारे बिना यम को कौन रोक सकेगा! और कौन कैलास पर्वत का उद्धार करेगा! सहस्रकिरण, नल कूबर, इन्द्र, चन्द्र, वरुण और सूर्य से अव कौन दुश्मनी लेगा! अब कौन रत्नकोष को संरक्षण देगा! अव कौन बहुरूपिणी विद्या को ग्रहण करेगा!

हे स्वामी, आपके न रहने पर, अब कौन पुष्पक विमान में चढ़ाकर वन्दनाभक्ति के लिए सुमेरु पर्वत के जिन मन्दिरों के लिए मुझे ले जाएगा।"]

पुणु वि पुणु वि गयणङ्गणगोयरि। कलुणक्कन्दु करइ मन्दोयरि ॥1॥
णन्दण-वणेँ दिज्जन्ति मणोहरि। सुमरमि पारियाय-तरू मज्जरि ॥2॥
वुड्डण-वाहिहेँ कथण-परिचड्डणु। सुमरमि ईसि ईसि अवरुण्डणु ॥3॥
सयण-भवणेँ णह-णिवर-वियारणु। समुरमि लीला-पङ्क य ताडणु ॥4॥
पयण-रोस समए मय वद्धणु। सुमरमि रसणा-दाम-णिवन्धणु ॥5॥
सुमरमि दिज्जमाणु दणु-दावणि। धरणिन्दहोँ केरउ चूड़ा-मणि ॥6॥
सुमरमि सामि कुमारहोँ केरउ। वरहिण-पेहुण-कण्णेऊरउ ॥7॥
सुमरमि सुर-करि-मय-मल-सामलु। हारें ठविज्जमाणु मुत्ताहलु ॥8॥

घत्ता

सुमरमि सइँ सुरयारुहणे ँणेउर-वर झंकार विलासु।
तो इ महारउ वज्जमउ हियउ ण वे-दलु होइ णिरासु ॥9॥76/10

[विद्याधरी मन्दोदरी बार-बार करुण क्रन्दन कर रही थी। वह कह रही थी—मुझे पारिजात की वह मंजरी याद आ रही है जो तुमने नन्दन वन में मुझे दी थी, याद आता है वह समय मुझे जब कि तुम स्नानवापिका में मेरे स्तनों पर चढ़ जाते थे, और धीरे-धीरे मेरा आलिंगन करते थे। याद करती हूँ जब शयन भवन में तुम अपने नखों से मुझे क्षत-विक्षत कर देते थे। याद आता है, आपका उस लीलाकमल से मुझे प्रताड़ित करना। मुझे याद आ रही है कि जब मैं प्रणयकोप में बैठी होती, तब तुम अपने हाथों मुझे करधनी पहनाते और मैं पागल हो उठती। मुझे याद आता है कि तुमने दानवों को चौका देनेवाला नागराज का चूड़ामणि मुझे लाकर दिया था। हे स्वामी, मैं याद करती हूँ कुमार के मयूरपंख का कर्णफूल। मुझे याद है कि ऐरावत के गन्धजल की तरह श्यामल तुमने मेरे हार में मोती लगाया था।

हे प्रिय, मैं याद करती हूँ सुरतिसमारम्भकाल में नूपुरों की स्वरलहरियों का लीला-विलास, फिर भी मेरा यह वज्र का बना हुआ निराश हृदय टूटकर टुकड़े-टुकड़े नहीं होता।]

रिट्ठणेमिचरिउ से

गोविन्द बाल लीला—

णंदइ णंदहो तणउ घरु जहिं हरि उप्पण्णउ वालु।
पालइ पालणए जि ठिउ गोट्ठंगणु-गो-परिवालु (छ)
कण्णहो णिसामग्गि अवक्खए। णिद्द ण एइ रणंगणकंखए ॥
अज्जवि पूयण काइँ चिरावइ। अज्जवि माया सयडु ण आवइ ॥
अज्जवि रिट्ठ-कंकु ण वलिज्जइ। अज्जवि गोवद्धणु ण धरिज्जइ ॥
अज्जवि अज्जुण-जुयलु ण भज्जइ। अज्जवि कंसतुरंगु ण गज्जइ ॥
अज्जवि जउण णाहिं मंथिज्जइ। अज्जवि कालिउ णाहि णत्थिज्जइ ॥
अज्जवि कुवलयवीढु ण हम्मइ। अज्जवि महुराणयरि ण गम्मइ ॥
अज्जवि सद्दु सुणिज्जइ तूरहो। अज्जवि तइय चलण चाणूरहो ॥
अज्जवि णंदइ पुरि जरसंधहो ॥
आयए कंखए बालु ण सोवइ। जाणइ जणणि अकारणे रोवइ ॥

घत्ता

मेहरि अम्माहीराएण परियंदइ हल्लरु णाह।
गोउलेपहं अवइण्णेण हउं हुइय चित्ति सणाह ॥1॥ यादव कांड 5/1

[नन्द का घर आनन्द में है, जहाँ हरि बालक उत्पन्न हुआ है, गोठ प्रांगण और गायों का परिपालन करने वाले जो पालने में स्थित होकर भी (जगत् का) पालन करते हैं। रात का मार्ग दिखाई देने पर युद्ध के क्षेत्र की आकांक्षा से कृष्ण को नींद नहीं आती। (वह सोचते हैं) आज भी पूतना देर क्यों करती है? आज भी माया शकट नहीं आता? आज भी अरिष्ट वायस नहीं लौटता? आज भी गोवर्धन पर्वत नहीं उठाया जाता। आज भी दोनों अर्जुन वृक्ष नष्ट नहीं किये जाते? केसी अश्व नहीं गरजता? आज भी यमुना नहीं मथी जाती, आज भी कालिया नाग को नहीं नाथा जाता? आज भी कुवलय गज की पीठ को आहत नहीं किया जाता? आज भी मथुरा नगरी को नहीं जाया जाता? आज भी नगाड़े का शब्द नहीं सुना जाता। चाणूर के पैर आज भी वैसे ही हैं, आज भी जरासंध की नगरी वैसी ही प्रसन्न है?" इसी आकांक्षा (चिन्ता) के कारण बालक नहीं सोता। माँ समझती हैं कि वह अकारण रोता है।

'अरे ओ सो जा' इस गीत के साथ माँ स्तुति करती है—हे हलधर स्वामी, तुम्हारे अवतीर्ण होने से मैं मन-ही-मन आज सनाथ हूँ।1]

को केहउ परचित्तइं चोरइ। हरि अलियउ णिरारिउ घोरइ ॥
णं खयकाले महण्णव गज्जइ। णं सुरताडिय दुदुंहि वज्जइ ॥
णं णव पाउसेण धणु गज्जइ। णं केसरि किसोर ओंरुजइ ॥
घोरण सद्दे मेइणि कंपइ। पयउ सामण्णु कोवि जणु जंपइ ॥
भीय जसोय विउझणेँ कुप्पइ। उट्ठि बप्प किर केत्तिउ सुप्पइ ॥
कहवि विउद्धु णाहु हरिवंसहो। ताम कहिज्जइ केणवि कंसहो ॥
वड्ढइ णंदगोट्ठि जो बालउ। विक्कमु कोवि तासु असरालउ ॥
घोरण-सद्दे अंबरु फुट्टइ। पिहि वि अभुत्ति डुक्करु छुट्टइ ॥

घत्ता

दुक्कु पमाणहो रिसि वयणु गोट्ठगंणे वड्ढइ विट्ठु।
अज्जु सुमहुर णराहियहो णं हियवइ सल्लु पइट्ठु॥2॥ 5/2

[कौन कैसे परचित्त चुराता है? बालक कृष्ण झूठमूठ ज़ोर-ज़ोर से घुरघुर करता है, मानो क्षयकाल में समुद्र गरजता है, मानों देवताओं द्वारा वजायी गयी दुन्दभि बजती हैं। मानो नव पावस से मेघ गरजता है, मानों सिंह का नवजात शिशु गरजता है। उस घुरघुर शब्द से धरती काँप उठती है। जनसमूह कहता है—यह सामान्य आदमी नहीं घुरघुर कर रहा है। भयभीत यशोदा बालक के जागने पर कुपित होती है—ओ सुभट, उठो। कितना सोते हो। तब हरिवंश के स्वामी किसी प्रकार उठे। इतने में किसी ने कंस से कहा—नन्द के गोठ में जो बालक पाला जा रहा है, उसका कोई अत्यन्त पराक्रम है, उसके घुरघुर शब्द से आकाश विदीर्ण हो जाता है, और ऐसी धरती कठिनाई से बचती है कि जिसका उपभोग न किया गया हो।

मुनि का वचन प्रमाणित हो गया। गोठ के आँगन में विष्णु बढ़ते हैं, आज मानों सुन्दर मथुरा के राजा के हृदय में शल्य प्रवेश कर गया। 2]

जं उप्पण्णु गोट्ठे दामोयरु। संकिउ महुरापुर-परमेसरु ॥
आयउ देवयाउ एत्थंतरि। सिद्धउ जाउ पुव्वजम्मंतरि ॥
जइयहुँ कंसु होतु पव्वइयउ। दुद्धरू घोरुवीरु तउ लइयउ ॥
चंदायणु चरंतु सुहकारणु। मासहो मासहो एक्कसि पारणु ॥
जाणिवि उग्गसेणें महुराराएं। भिक्ख णिवारिय पुरेँ अणुराएं ॥
महु जि णिहेलणे थाउ भडारउ। सो वि पइट्ठु अणंग-वियारउ ॥
पत्त गइंद अग्गि कूवारउ। ते अलाहु तहो जाउ तिवारउ ॥
मासि चउत्थए जाव पइसइ। मुच्छंतेँ अंधार तेँ दीसइ ॥

घत्ता

केणवि कोहुप्पायइउ, पत्थिवेण महारिसि मारिउ।
आएं को अवराहु किउ जें पुरि पइसार णिवारियउ॥ 3] 5/3

[गोठ में जो दामोदर का जन्म हुआ, उससे मथुरा का राजा शंकित हो उठा इसी बीच देवियाँ आयीं जो उसे (कंस को) पूर्वजन्म में सिद्ध हुई थीं, कि जब कंस ने संन्यास ग्रहण करते हुए अत्यन्त घोर वीर तप किया था। शुभ (पुण्य) के कारण रूप चान्द्रायण तप करते हुए वह माह-माह में एक बार तप ग्रहण करता था। यह जानकर मथुरा के राजा उग्रसेन ने अनुराग के कारण, लोगों को मुनि के लिए भिक्षा देने से मना कर दिया और उनसे अनुरोध किया कि हे आदरणीय, आप मेरे घर ही रहें। कामदेव को नष्ट करनेवाले वह मुनि नगर में प्रविष्ट हुए। लेकिन पत्र गजराज और अग्निसंकट के कारण उन मुनि को तीन बार आहार का लाभ नहीं हो सका। चौथे माह में जब वह प्रवेश करते हैं तो वे मूर्छित हो जाते हैं और उन्हें अन्धकार दिखाई देता है।

किसी ने यह कहकर राजा को क्रोध उत्पन्न कर दिया कि राजा ने महामुनि को मार डाला। इन्होंने कौन-सा अपराध किया कि जिससे उसने इनका नगर में प्रवेश रोक दिया। 3]

सिद्धउ देवयाउ तहिं अवसरि। देइ आएसु भणंति खणंतरि॥
वासुएउ वलएउ मुएप्पिणु। दिज्जउ अवर कवणु बंधेप्पिणु॥
उग्गसेणु कि पलयहो णिज्जउ। किं समसुत्ती पूरे पाडिज्जउ॥
वुच्चइ जइवरेण एत्थंतरे। एउ करिज्जहु अण्णभवंतरे॥
अम्हइं ताउ कंस सुपसण्णउ। मग्गि मग्गि कि चिंतावण्णउ॥
पभणइ महुरापुरि-परिवालउ। वड्ढइ णंदहों घरि जो बालउ॥
तं विणिवाइयहु महु आएसें। पूयण धाइया घाई-वेसे॥
सविसु पयहरु ढोइउ बालहो। णं अप्पाणु छुद्धु मुहिकालहो॥

घत्ता

सो थणु दुद्धधारधवलु हरि-उहय करंतरे माइयउ।
पहिलारउ असुराहयणे णं पंचजण्णु मुहि लाइयउ ॥4॥

[उस अवसर पर सिद्ध हुई देवियाँ 'आदेश दो' कहती हुई पल भर में आ गयीं। बोलीं, "वासुदेव और बलदेव को छोड़कर और किसे बाँधकर दिया जाए? क्या उग्रसेन को प्रलय पहुँचाया जाए? क्या नगर में वज्र गिराया जाए?" इसी बीच मुनिवर ने कहा—यह काम दूसरे जन्म में करना। "हे कंस हम वे ही देवियाँ प्रसन्न हुई हैं, माँगो माँगो! तुम चिन्ता से व्याकुल क्यों हो?" तब मथुरापुरी का परिपालन करनेवाला कहता है, "नन्द के घर में जो बालक बढ़ रहा है मेरे आदेश से तुम उसे मार डालो।" पूतना

धाय के वेश में दौड़ी। बालक को उसने विषैला स्तन दिया, मानो उसने स्वयं को काल के मुख में डाल लिया।

दूध की धार से धवल वह स्तन श्रीकृष्ण के दोनों हाथों में समाता हुआ ऐसा मालूम हुआ मानो असुरों के युद्ध में पहले पहल पांचजन्य मुख में रखा हो।] 4

पूयणु पण्हुवंति आयट्टइ। थणुथणंतु थणंधय कड्ढइ ॥
पूयण पण्हुवंति भेसावइ। भद्दिउ भीमभिउडि दरिसावइ ॥
पूयण पण्हुवंति पवियंभइ। माहवरुहिर-पाण पारंभइ ॥
पूयण पण्हुवंति किर मारइ। णिट्ठुर-मुट्ठिु विण्हु वड्ढारइ ॥
पूयण पउरकरेहिं पडिपेल्लइ। डसइ जणद्दणु गाहुण मेल्लइ ॥
पूयणपिज्जमाण आंकदइ। हरि धुत्तत्तणेण परियंदइ ॥
सोणिय वीसद्ध घाणिएमत्तउ। तो वि पओहरु णा वि परिचत्तउ ॥

घत्ता

खीरु वि रुहिरु वि पूयणहे कडिढउ केसवेण रउद्दे।
णं णहुमुहेण वसुंधरिहे आकरिसिउ सलिलु समुद्दें॥5॥ 5/5

[पूतना पनहाती हुई घूमती है, शिशु थन-थन करते हुए स्तन को खींचता है। पनहाती हुई पूतना डराती है, भद्र कृष्ण भयंकर भौंहें दिखाता है। पनहाती हुई पूतना बढ़ती है, माधव रक्त का पान प्रारम्भ करते हैं। पूतना पनहाती हुई मारती है, विष्णु (कृष्ण) अपनी दृढ़ मुट्ठी मारते हैं। पूतना अपने प्रवर हाथों से उसे ठेलती है, जनार्दन उसे काटता है, वह अपनी पकड़ को नहीं छोड़ता। पी जाती हुई पूतना चिल्लाती है, कृष्ण धूर्तता से घूमते हैं, यद्यपि वह रक्त की घान से मत्त है, तो भी उनके द्वारा पयोधर नहीं छोड़ा जाता।

रुद्र कृष्ण ने पूतना का दूध भी और रक्त भी इस प्रकार खींच लिया मानो नदी के मुख से समुद्र ने धरती का जल खींच लिया हो।] 5

णिसुणि सद्दु रउद्दु उक्कदरु। णट्ठ जसोय ससज्झ समंदरु ॥
वालु ण रक्खसु चित्तु चमक्कइ। पूयण विरसु रसति ण थक्कइ ॥
वासुएउ वसुएवहो णंदणु। हरि-उविंद-गोविंद जणद्दणु ॥
पउमणाइ माहव महुसूयण। कंसहो तणिय विज्ज हंउ पूयण ॥
गइय ण एमि, जामि ण मारहि। थणवण-वेयण-पसरु णिवारहि ॥
दुक्खु-दुक्खु आमेल्लिय बालें। तहिं गोट्टगणेँ थोवे काले ॥
णवणवणीय-हत्थु हरि अंगणे। अच्छइ जाम ताम गयणंगणे ॥
आइय देवय कंसाएसे। सुंसुवंति वरवायसवेसे ॥

घत्ता

जाणिउ एंतु जणद्दणेण खग-मायारूव पवंचु।
करिवि अयंगमु घल्लियउ णिप्पीडण-तोडिय-चंचु ॥6॥ 5/6

[ऊँचा और भयंकर शब्द सुनकर यशोदा भयपूर्वक अपने घर से भागी और बोली कि यह बालक नहीं राक्षस है। उसका चित्त चौंकता है। पूतना बुरी तरह चिल्लाती हुई नहीं रुकती, "हे वसुदेव के पुत्र वासुदेव, हरि, उपेन्द्र, गोविन्द, जनार्दन, पद्मनाथ, माधव, मधुसूदन मैं पूतना कंस की विद्या हूँ। गई हुई नहीं आऊँगी। मैं जाती हूँ, मुझे मत मारो। स्तनों के घावों की वेदना को दूर करो।" बालक ने बड़ी कठिनाई से उसे छोड़ा। थोड़े समय बाद उसी गोठ आँगन में जब शिशु कृष्ण नवनीत के समान हाथवाले हरि बैठे हुए थे, कि तभी आकाश के आँगन में कंस के द्वारा प्रेषित एक देवी आयी, कौए के रूप में सूँ, सूँ करती हुई।

जनार्दन ने, खग के माया रूप प्रपंच को जान लिया। जिसकी चोंच निष्पीड़न से टूट चुकी है, ऐसे उस मायावी पक्षी को अजगम करके छोड़ दिया।] 6

कइहिं दिणेहिं णरिंदाएसें। आइय देवय संदण वेसे ॥
घुरुहुरंत खुप्पतेहिं चक्केहिं। रुंदिम-संदाणिय चन्दक्केहिं ॥
रहु सयमेव अवाहणु धावइ। थाण हो चलिउ महीहर णावइ ॥
सोवि गोविंदें विक्कमसारें। भग्गु कडत्ति णियंधिपहारें ॥
अण्णहिं वासरि अइबलवन्तउ। मायावसहु आउ गज्जंतउ ॥
चलणुच्चालिय-भूहरभयंकरु। ढेक्कारव-बहिरिय-भुवणोयरु ॥
गुरु-सिंगग्ग-लग्ग-णहंमणु। भेसाविय-असेस-गोट्ठगणु ॥
पेक्खिवि रिट्ठु सुट्ठु आरुट्ठउ। वलेवि कंठु किउ पाराउट्ठउ ॥

घत्ता

गीवाभंगे पदरिसिए संदाणिउ जाउ विसेसें।
वंको वलिए णीसरिवि गउ जीविउ कहवि किलेसें ॥7॥ 5/7

[कुछ ही दिनों में राजा के आदेश से एक देवी रथ के रूप में आयी, विस्तार में चन्द्रमा और सूर्य को पराजित करनेवाले जगमगाते चक्कों (चक्रों) से घुर-घुर करती हुई। रथ अपने आप दौड़ता है, जैसे महीधर अपने स्थान से चालित होकर दौड़ रहा हो। विक्रम में श्रेष्ठ गोविन्द ने उसे भी अपने पैरों के प्रहार से तड़तड़ तोड़ दिया। दूसरे दिन अत्यन्त बलवान मायावी बैल गरजता हुआ आया। जो पैरों से उछाले गये पहाड़ से भयंकर है, जिसके विशाल सींग का अगला भाग आकाश के आँगन से जा लगा है, जिसने समस्त गोठ आँगन को भयभीत किया है।

ग्रीवा भंग के प्रदर्शन से बैल विशेष रूप से नियन्त्रित हो गया। टेढ़े मुड़ने पर उसके प्राण बड़ी कठिनाई से निकलकर जहाँ कहीं भी चले गये।] 7

अण्णहिं दिवसि तुरंगमु आइय। भग्गगीउ गओ कहवि ण घाइउ ॥
अण्णहिं वासरि वालु थणंघउ। दाम गुणेण उलूखलु बद्धउ ॥
गय जसोय सरसलिलहो जावहिं। पच्छइ लग्गु जणद्दणु तावहिं ॥
एक्कं गइ विलासु परिवड्ढइ। अवरकमेण उलूखलु कड्ढइ ॥
कंसाएसें परवल गंजणु। उप्परि पडिय णवरि जमलज्जणु ॥
महसूयणेण मज्झत्थे। एक्केकउ एक्केकक्कें हत्थे ॥
भग्ग कडत्ति वेवि गयणासेवि। रूवइं मायावियइं पयासेवि ॥
अण्णहिं काले घूलि पहाणेहिं। जलहरधारहिं मुसलपमाणेहिं ॥
लइउ गोट्ठ आरुट्ठजणद्दणु। गिरि उद्धरिउ दुद्धरु गोवद्धणु ॥

घत्ता

वडिढ्य-पुण्ण-फलोद-एण दणुदेह दलण-अवयिण्हें।
दिवहइं सत्त सरत्तियइं परिरक्खिउ गोउल, कण्हें ॥8॥5/8

[दूसरे दिन घोड़ा आया। गर्दन नष्ट होने के कारण वह भाग खड़ा हुआ, किसी प्रकार मरा भर नहीं। दूसरे दिन, दूध पीता बच्चा रस्सी से ऊखल से बाँध दिया गया। जिस समय यशोदा तालाब के जल के लिए जाती है, उसी समय जनार्दन पीछे लग गये। एक पैर से वह अपना गतिविलास बढ़ाते हैं, और दूसरे पैर से ऊखल को खींचते हैं। कंस के आदेश से शत्रुसैन्य का नाश करनेवाले यमलार्जुन केवल उसके ऊपर गिर पड़े। तब बीच में स्थित मधुसूदन ने एक-एक को एक-एक हाथ से तड़तड़ करके नष्ट कर दिया। वे दोनों अपने मायावी रूप दिखाकर भाग गये। एक समय जिनमें धूल और पत्थर है और जो मूसल के बराबर हैं ऐसी जलधर धाराओं ने गोठ को घेर लिया। जनार्दन क्रुद्ध हो उठे, उन्होंने दुर्धर गोवर्धन पर्वत उठा लिया।

जिसके पुण्यफल का उदय बढ़ रहा है, और दानवों के शरीरों को चूर-चूर करने में अवितृष्ण (असंतुष्ट हैं) ऐसे कृष्ण ने सात दिन-रात गोकुल की रक्षा की।] 8

अण्णहि वासरि णयणाणंदहो। देवइ हलहरु गोउलणंदहो ॥
गयइं वेवि हरिणंदणलुद्धइ। जहिं गोवइं परिवड्ढिय दुद्धइं ॥
जहिं बोलिज्जइ गोमलियामउ। ढोइज्जइ सिंदूरउ दामउ ॥
जहिं गोविउ गोविंदात्तिहरु। दाविय कंचुयद्धथण-सिहरु ॥
जहिं वण्णिज्जइ जणेण जणद्दणु। एत्थु पलोट्टिउ मायासंदणु ॥
पूयण एंतु एत्थु पडिच्छिय। वायसविज्ज एत्थु णियच्छिय ॥
एत्थु रिट्ठु सतुरंगमु मद्दिउ। एत्थु उलूखलु कड्ढइ भद्दिउ ॥
एत्थु भग्गु जमलज्जण वालें। गिरि उद्धारिउ एत्थ भुयडालें ॥

घत्ता

तं गोट्ठंगणु देवइए, लक्खिज्जइ सुट्ठु खण्णउ।
अवसें होसइ महग्धयरु, णारायण सियहेँ-णिसण्णउ ॥9॥ 5/9

[दूसरे दिन देवकी और बलराम दोनों नेत्रों को आनन्द देनेवाले गोकुल के नन्द के पास वहाँ गये जहाँ दूध का संवर्धन करनेवाले गोपति थे, और जहाँ गायों के झुंड और मृग बोल रहे थे। जहाँ सिन्दूर और रस्सियाँ ढोयी जा रही थीं। जहाँ गोविन्द की पीड़ा को दूर करनेवाली और कंचुकी से अपने आधे स्तन के शिखर भाग को दिखानेवाली गोपियाँ थीं। जनों के द्वारा जहाँ जनार्दन का इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि यहाँ उन्होंने मायावी रथ को उलटाया, यहाँ आती हुई पूतना की प्रतीक्षा की। यहाँ वायसविद्या को पीड़ित किया। यहाँ अश्वसहित अरिष्ट वृषभ का मर्दन किया। यहाँ भद्र (कृष्ण) ऊखल खींचते रहे, यहाँ शिशु ने यमलार्जुन को भग्न किया। यहाँ कृष्ण ने अपनी बाहुरूपी डाल से गोवर्धन पर्वत उठाया।

देवकी को गोठ प्रांगण अत्यन्त सुन्दर दिखाई दिया। (उसे लगा कि) नारायण की श्री में रहनेवाला अवश्य ही मूल्यवान सिद्ध होगा।] 9

वासुएव वसुएवधरिणिए। कलह करेणु दिट्ठु णं करिणिए ॥
पीयलवासु महाघण-सम्मउ। सिरकमल ट्ठिय कुवलयदम्मउ ॥
कावि गोवि तहोँ पच्छइ लग्गी। थक्कु कण्ह पइं मंथणी भग्गी ॥
जइ ण महारउ ढुक्कहिं पंगणु। एक्कसि जइ ण देहि आलिंगणु ॥
कावि गोवि सयवारउ घोसइ। णंदहों तणिय आण तउ होसइ ॥
जइ एक्कु वि पउ देहि परंमुहु। एक्कवार जोयहि सवडंमुहु ॥
कावि गोवि रसरंग-पलक्की। हरितणु कंतिहे ल्हिक्किवि थक्की ॥
एम णियंति कीलतहो बालहो। धणरिद्धि णं मिलिय सुकालहों ॥

घत्ता

पुत्त समागमे देवइहे थण पण्हुउ कहिं मि ण माइ।
लहु अहिसित्तु पयोहरेहि विहि मेहेहिं महिहरु णाइ॥10॥ 5/10

[वसुदेव की गृहिणी देवकी ने वासुदेव (कृष्ण) को इस प्रकार देखा मानो हथिनी ने हाथी के बच्चे को देखा हो। पीले वस्त्र वाले वह महामेघ की तरह श्याम हैं, और सिर पर कमलमाल स्थित है। कोई गोपी उनके पीछे पड़ गयी, "हे कृष्ण तुमने मेरी मथानी तोड़ी है, तुम तब तक यहीं ठहरो कि जब तक तुम मेरे आँगन में नहीं पहुँचते और मुझे आलिंगन नहीं देते।" कोई गोपी सौ बार घोषित करती है, "तुम्हें नन्द की शपथ है कि यदि विमुख होकर तुम एक भी कदम रखते हो, एक बार मुँह सामने करके देखो।" रस क्रीड़ा से प्रदीप्त कोई गोपी कृष्ण के शरीर की कान्ति में छिपकर

बैठ गयी। क्रीड़ा करते हुए बालक कृष्ण को देवकी इस प्रकार देखती हैं जैसे सुकाल को धन-ऋद्धि मिल गयी हो।

पुत्र के संगम के कारण देवकी का दूध झरता स्तन कहीं भी नहीं समाता। देवकी के पयोधरों से श्रीकृष्ण उसी प्रकार अभिषिक्त हुए जिस प्रकार महीधर मेघों से अभिषिक्त होता है।] 10

तो अवहत्थु करिवि संखेवें। खीरहडेण सित्तु बलएवें। ॥
वासह-वसह भणेवि पगासिय। जिह भउ होइ ण कंसहो पासिय ॥
अंचेवि पुज्जेवि वंदिवि गोवइ। गय णियभवणु पडीवी देवइ ॥
महुराहिउ तहिं काले घुडुक्कउ। पेक्खह वालु भणंतु पढुक्किउ ॥
णट्ठ जसोय कहिमि हरि लेप्पिणु। पाणिग्गहण-पघोस करेप्पिणु ॥
तहिंवि दुवालिए विणु ण पवत्तइ। सिलसंघाउ सिलोवरि घत्तइ ॥
हरि-चरेहिं कहिज्जइ कंसहो। सच्चउ होइ णाहु हरिवसंहो ॥
कावि अपुव्व भंगि तहो केरी। दुक्करु छुट्टइ वसुमइ तेरी ॥

घत्ता

महुरापुर परमेसरहो भउ वट्टइ धीरु ण थाइ।
हरिबलगुण करवत्तेहिं कप्पिज्जइ हियवउ णाइ ॥11॥ 5/11

[तब शीघ्र ही देवकी को हटाकर बलदेव ने दूध के घड़े से उसका अभिषेक किया और उन्हें 'इन्द्रश्रेष्ठ' कहकर प्रकाशित किया कि जिससे उन्हें कंस से भय न हो। गोपति (कृष्ण) की अर्चना पूजा और वंदना कर देवकी वापस अपने घर पर गयी। उस अवसर पर मथुरा का राजा गरजा और 'बालक को देखो' यह कहता हुआ वहाँ पहुँचा। यशोदा श्रीकृष्ण को लेकर और विवाह की घोषणा कर कहीं (दूर) चली गयी। वहाँ भी बालक ऊधम के बिना प्रवृत्ति नहीं करता, वह शिला के ऊपर शिलाओं का समूह स्थापित करता है। दूतों ने जाकर कंस से कहा, "सचमुच श्रीकृष्ण हरिवंश के स्वामी होंगे। उनकी कोई अपूर्व ही भंगिमा है। अब बड़ा कठिन काम है, तुम्हारी धरती हाथ से जाएगी।"

मथुरा नगरी के परमेश्वर कंस के मन में डर है, उसके मन में धीरज स्थिर नहीं रहता। जैसे वासुदेव और बलराम के गुणरूपी करोंत से उसका हृदय काट दिया गया हो।] 11

कालिया नाग का दमन

सिरिरामालिंगिय वच्छयलु पइज्ज करेप्पिणु णीसरइ।
कमलायरे कमलणिमित्तें जउणामहादहि पइसरइ।

मुसुमूरिय-मायासंदणेण। लक्खिज्जइ जउणा जणद्दणेण ॥
अलिवलय-जलय-कुवलय-सवण्ण। रवि-भइएण णं णिसितलि णिसण्ण ॥
णं वसुहवरंगण-रोमराइ। णं दडढमयण कटिणि वि राइ ॥
इंदणीलमणि-भरियखाणि। णं कालियाहि-अहिमाण-हाणि ॥
तहिं कालि णिहालिवि आय सव्व। ग्रामीण-गोव जायव सगव्व ॥
थिम भावणदेवि धरित्तिमग्गे। जोइज्जइ सासहु सुरेहिं सग्गे ॥
आहोडिउ दणुतणुमद्दणेण। जउणादह देवइ - णंदणेण ॥
संखोहिय जलयरु जलु वि सद्दु। णीसरिउ सप्पु पसरिउ रउद्दु ॥

घत्ता

केसउ कालिउ कालिंदिजलु तिण्णिवि मिलियइं कालाइं।
अंधारी हूयउ सब्बु काइं णियंतु णिहालाइं ॥1॥ 6/1

[जिनका वक्षस्थल लक्ष्मीरूपी रमणी से आलिंगित है ऐसे कृष्ण प्रतिज्ञा करके कमलों के लिए यमुना महादह सरोवर में प्रविष्ट होते हैं।

मायावी रथ को चकनाचूर करवा देनेवाले जनार्दन ने भ्रमर समूह, जलद और नीलकमल के समान रंगवाली यमुना नदी को इस प्रकार देखा मानो सूर्य के डर के कारण निशातल पर बैठी हुई हो, मानो वसुधारूपी वरांगना की रोमराजि हो, मानो दग्ध कामदेव की करधनी शोभित हो, मानो इन्द्रनील मणियों से भरी हुई खान हो, मानो कालिया नाग के अभिमान की हानि हो। उस अवसर पर ग्रामीण गोप और यादव सभी लोग गर्व के साथ देखने आये। भुवनवासिनी देवी धरती के मार्ग पर स्थित हो गयी। स्वर्ग में देवगण तथा विद्याधर राजा देखने लगे। दानवों के शरीरों को चकनाचूर करनेवाले देवकी के पुत्र ने यमुना सरोवर को आलोड़ित कर दिया। भयंकर साँप निकला और फैल गया।

केशव, कालिया नाग और कालिन्दी जल तीनों काले मिल गए, सब कुछ अन्धकारमय हो गया। देखे हुए को देखने से क्या? 1]

रुक्मिणी का हरण

हरिवलएव वेविगय तेत्तहिं। रुप्पिणि थिय णंदणवणेजेत्तहिं ॥
किरणावलि घिवइ तरुविंदहो। रहवरु ढुक्कु ताम गोविंदहो ॥
मंदरु णाइं सुरेँहिं संचालिउ। घंटाकिंकिणिजाल-वमालियउ ॥
गारुडलंछण-लंछिय-घयवडु। परणरवर-संगर-सिंरि-लंवडु ॥
दारुइ-कसतोरविय-तुरंगमु। चक्ककारें चूरियउ-जंगमु ॥
रहु सुमणोहरु दीसइ कण्णए। णारउ दूरहो दावइ सण्णए ॥
एँहु सो रुप्पिणि कंतु तुहारउ। दुद्दमदाणव-देहवियारउ ॥
तो आरूढ़ बाल वरसंदणि। सिय-सोहग्ग देंतु जउ णंदणि ॥

घत्ता

तहिं अवसरि केण कि अक्खिउ दुद्दमदणु विणिवायणेण।
कुढि लग्गहो जइ ओलग्गहो˝ रुप्पिणि णिय णारायणेण ॥6॥ 9/6

[कृष्ण और बलराम दोनों वहाँ गये जहाँ उद्यान में रुक्मिणी स्थित थी। वृक्षों के समूह द्वारा किरणावली ग्रहण की जा रही थी। इतने में गोविन्द का रथ वहाँ पहुँचा जो मन्दर (सुमेरुपर्वत) के समान देवों से संचालित था। घण्टों की किंकणियों (घुँघरुओं) के जाल से मुखर, गरुड़ के चिह्न से अंकित ध्वजपटवाला, शत्रु राजाओं की युद्ध-लक्ष्मी का लंपट, लकड़ी के चाबुक से उत्तेजित अश्वों वाला, चक्रों के चलने की आवाज से जीवों को चूर-चूर करता हुआ सुन्दर रथ कन्या ने देखा। नारद दूर से उसे बताते हैं, "हे रुक्मिणी। यही तुम्हारा वह पति है—दुर्दम दानवों के देहों को चूर-चूर कर देनेवाला।" तब बाला वर के रथ पर यदुनन्दन को श्री और सौभाग्य देती हुई चढ़ गयी।

उस अवसर पर किसी ने जाकर कहा—दुर्दम दानवों का विदारण करनेवाले नारायण के द्वारा रुक्मिणी ले लायी जा रही है। यदि पीछा कर सकते हो तो करो। 6]

मन्दोदरी का रूप

दीसइ तेण वि सहसत्ति बाल। णं भसलें अहिणव-कुसुम-माल ॥1॥
दीसन्ति चलण-णेउर रसन्त। णं महुर-राव वन्दिण पढन्त ॥2॥
दीसइ णियम्बु मेहल-समग्गु। णं कामएव-अत्थाण-मग्गु ॥3॥
दीसइ रोमावलि छुडु चडन्ति। णं कसण-बाल-सप्पिणि ललन्ति ॥4॥
दीसन्ति सिहिण उवसोह देन्त। णं उरयलु भिन्दें वि हत्थि-दन्त ॥5॥
दीसइ पप्फुल्लिय वयण-कमलु। णीसासामोयासत्त-भसलु ॥6॥
दीसइ सुणासु अणुहुअ-सुअन्धु। णं णयण-जलहों किउ सेउ-बन्धु ॥7॥
दीसइ णिडालु सिर-चिहु-छण्णु। ससि-विम्बु व णव-जलहर-णिमण्णु ॥8॥

घत्ता

परिभई दिट्ठि तहों तहिं जें तहिं। अण्णहिं कहि मि ण थक्कइ।
रस-लम्पड महुयर-पन्ति जिम। केयइ मुएँ वि ण सक्कइ ॥9॥

[उसने भी सहसा बाला को देखा, मानो भ्रमरों ने अभिनव कुसुममाला को देखा हो। मुखर चंचल नूपुर ऐसे लगते थे मानो चारण मधुर स्वर में पढ़ रहे हैं। मेखला से रहित नितम्ब ऐसे दिखाई देते हैं मानो कामदेव के आस्थान का मार्ग हो, धीरे-धीरे चढ़ती हुई रोमावली ऐसी दिखाई देती हे, मानों काली बाल नागिन शोभित हो, शोभा देनेवाले स्तन ऐसे दिखाई देते हैं, मानों हृदयों को भेदने के लिए हाथी दाँत हों। खिला

हुआ मुख-कमल ऐसा दिखाई देता है जैसे निःश्वासों के आमोद में अनुरक्त भ्रमर उसके पास हों। अनुभूत सुगन्ध उसकी नाक ऐसी मालूम देती है मानों नेत्रों के जल के लिए सेतुबन्ध बना दिया गया हो। सिर के बालों के आच्छन्न ललाट ऐसा दिखाई देता है मानों जैसे चन्द्रबिम्ब नवजलधर में निमग्न हो।

उस पर उसकी दृष्टि जहाँ भी पड़ती वह वहीं घूमती रहती। दूसरी जगह वह ठहरती ही नहीं। उसी प्रकार जिस प्रकार रसलम्पट मधुकर पंक्ति केतकी को नहीं छोड़ पाती।

प्रभात वर्णन

विम्लें विहाणएँ कियणे पयाणएँ। उययइरि-सिहरें रवि दीसइ।
मइँ मेल्लेप्पिणु णिसियरु लेप्पिणु। कहिं गय णिसि णाई गवेसइ ॥1॥
सुप्पहाय-दहि-अंस-रवण्णउ। कोमल-कमल-किरण-दल-छण्णउ ॥1॥
जय-हरें पंइसारिउ पइसन्तें। णावइ मंगल-कलसु वसन्तें ॥2॥
फग्गुण-खलहों दूउ णोसारिउ। जेण विरहि जणु कह व ण मारिउ ॥3॥
जेण वणप्फइ-पय विब्भाडिय। फल-दल-रिद्धि मडप्फर साडिय ॥4॥
गिरिवर गाम जेण धूमाविय। वण-पट्टण-णिहाय संताविय ॥5॥
सरि-पवाह-मिहुणइँ णासन्तइँ। जेण वरण-घण-णियलेंहि घित्तई ॥6॥
जेण उच्छु विड जन्तें हिं पीलिय। पव-मण्डव-णिरिक्क आवीलिय ॥8॥

[दूसरे दिन सुन्दर सवेरा होने पर रावण ने प्रयाण किया। उदयगिरि के सिर पर सूर्य दिखाई दे रहा था, मानों यह खोजते हुए कि मुझे छोड़कर और निशाकर को लेकर निशा कहाँ चल दी? सुप्रभात के दही के समान किरणों से सुन्दर और कोमल किरणों के दल से आच्छन्न, अरुण सूर्यपिण्ड ऐसा मालूम पड़ता है मानों वसन्त ने अपने जयगृह में प्रवेश करते हुए, मंगलकलश का प्रवेश कराया हो, फागुनरूपी दुष्ट के दूत को निकाल दिया गया जिसने विरहीजनों को किसी प्रकार मारा भी नहीं था, जिसने वनस्पतिरूपी प्रजा को तहस-नहस कर दिया, फलों और पत्तों की ऋद्धि को नष्ट कर दिया, गिरि और गाँवों को जिसने कुहरे से भर दिया, वन और नगरों के समूह को जिसने ख़ूब सताया, नदी के प्रवाह मिथुनों को नष्ट कर जिसने वरण के हिम धन की शृंखलाओं में डाल दिया, जिसने इक्षुवृक्षों को यन्त्रों से पीड़ित किया, तैरने के मण्डपसमूह को पीड़ा पहुँचायी, जिससे राज्य में केवल पलाश को ही वृद्धि प्राप्त हुई, उस फागुन माह का मुख काला करके।]